रोज़नामचा

● इंदु जैन ● पुष्प धन्वा



सरस्वती विहार

'मम्मी' को
जिन्होंने इन लेखों को सृजनशील-पत्रकारिता कहकर
लिखते चले जाने की प्रेरणा दी।

अपनी बात

जब भी कोई लेखक-द्वय एक कृति का निर्माण करता है, यह कह पाना बहुत कठिन होता है कि किसने उसके किस अंश को सृजा। 'रोजनामचा' के साथ भी यही सच है। इसके लेखों में अनुसंधान से लेकर सामग्री की तरतीब, विधा-चयन व लेखन और तत्पश्चात् उस सबका परिष्कार —ऐसे अनेक पड़ाव थे, जिनपर हम दोनों साथ-साथ सहमते, स्वीकारते-अस्वीकारते, इस मंजिल तक पहुंचे हैं। इसके अंतिम रूप के लिए हम दोनों, पूरी तरह एक-से उत्तरदायी हैं।

तोक्यो,
जापान

—इन्दु जैन, पुष्प पग्गा

विषय-क्रम

रोजनामचा

रोजनामचा

खण्ड 1



खण्ड 1



समसामयिक

चांद पर मौन टंकारता यान
नीले पसराव में अकेला
सिद्धि की व्यर्थता लादे
महाकाय मानव
शरीर के शिकंजे में कसा रहता है
भूख का कठौना खुला रहता है
सिर पर शैतान ठठाना
भरा बादल फिर
बिना बरसे गुजर जाता
इस इम्पाती दिल में एक और कील ठोको…

अश्लीलता : एक प्रश्न
सेंसर : समाधान ?

हमारी जागरण की अवस्था अधिकांश अंतरंग विचारों के सोने की अवस्था होती है। जब हम सो जाते हैं तभी वे सब आराम से हमारे भीतर अंगड़ाई ले पाते हैं। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि रात को सेंसर (संतरी) सो जाता है और चेतन-अवचेतन के बीच का द्वार बे-रोकटोक पार किया जा सकता है। इसीलिए सब प्रकार के विचार पूर्ण स्वतन्त्रता से मन की हर तह पर विचरने लगते हैं।

रोम में ईसा से ४४३ वर्ष पूर्व दो मजिस्ट्रेट हुआ करते थे, जो 'सेंसर' कहलाते थे। प्रारंभ में तो इनका काम जनगणना करना तथा इसका लेखा तैयार करना था कि किस नागरिक का राज्य के भीतर क्या कर्तव्य है, किन्तु धीरे-धीरे ये समाज की नैतिकता के निर्णायक और रखवाले बन गए। आज की दुनिया तक पहुंचते-पहुंचते हमने इस रखवाले के कई बदलते रूप देखे हैं। इसने मार्टिन लूथर के क्रांतिकारी विचारों का दम घोटना चाहा, कवि बायरन को देश-निकाला दिया, ऑस्कर वाइल्ड को कठघरे में खड़ा कर दिया और विश्व के हर बड़े नगर की रंगीन रातों को पुलिस की सीटियों से गुंजाया। धर्म, राजनीति, प्रणय—सभी दिशाओं में चाबुक घुमाता यह कभी वाणी पर टूटता है, कभी अक्षर पर, कभी चित्र पर तो कभी चलचित्र पर। माइकेल स्कॉट को भारत से खदेड़ दिया गया, अंग्रेज शासकों ने मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' को तलाश किया।

स्वतन्त्रता की सीमा के संदर्भ में एक देश से दूसरे देश में विषमता की मात्रा आश्चर्यचकित कर देने वाली है। एक ही आकाश के नीचे अमेरिकी मंच पर नग्न-नृत्य होता है, इंग्लैंड की युवा सुंदरियां पारदर्शी कपड़े पहनकर सड़कों पर घूमती हैं और इधर भारत अभी अश्लील पोस्टर-युद्ध में लगा है। इतनी विषमता क्यों ? कारण स्पष्ट है कि 'अश्लील' की एक सरल, सर्वमान्य, छोटी-सी परिभाषा आज

तक नहीं बन पाई। भारतीय दंड-संहिता की धारा २९२ किसीको अश्लील तो झट् से करार कर जाती है किन्तु इस शब्द की व्याख्या उसमें नहीं की गई है। परिणामस्वरूप इस 'अपराध' का निर्णायक हर पुलिसमैन बन बैठा है और हर छोटी-से-छोटी अदालत का न्यायाधीश इस अस्पष्ट अपराध की सजा सुना सकता है।

अपराध-रूप में अश्लीलता का इतिहास देखने पर पता चलता है कि पहले इसे दंडित करना गिरजाघरों की ही सीमाओं में बंधा था। इन धार्मिक न्यायालयों का मापदंड आदम और हव्वा द्वारा किए गए प्रथम पाप पर आधारित था। यह बात दूसरी थी कि उनके धर्म-ग्रंथ में सबसे बुद्धिमान सम्राट् था सॉलोमन, जिसके उद्दाम प्रणय-गीत को 'गीतों का राजा' कहकर पुकारा गया था :

"मैं तुम्हें पिलाऊंगी मदिरा सुवासित,
अपने अनार का रंगीन रस,
बायां कर तेरा टिकाएगा शीश को मेरे,
दाहिना, अंक में समेटेगा मुझको।"

व्यावहारिक रूप में भारतीय न्यायालय इस संबंध में अंग्रेजों की दी परिभाषा पर ही चल रहा है। सन् १८६८ में पहली बार मुख्य न्यायाधीश कॉकबर्न ने १८५७ की लॉर्ड कैम्पबेल-धारा के अन्तर्गत बेंजमिन हिक्लिन द्वारा लिखित एक पैम्फलेट पर कानूनी प्रतिबंध लगाया, जिसमें कैथोलिक चर्च के कृत्यों की निन्दा की गई थी। उस समय कॉकबर्न ने अश्लीलता की जांच के विषय में कुछ शब्द कहे, जो आज तक मान्य हैं। उन्होंने कहा, "मेरे विचार में, जो कुछ भी अवयस्क मस्तिष्क को पतित व दूषित करने की क्षमता रखता है—अश्लील है।"

प्रतिबंध, समाज के गठन की नींव रहा है और समाज की प्रगति प्रतिबंध के टूटते जाने पर निर्भर रही है। किन्तु न तो मात्र प्रतिबंध समाज है और न ही हर प्रकार के प्रतिबंध को तोड़ना प्रगति का एकमात्र चिह्न। व्यक्ति हर क्षण स्वतन्त्र होने के लिए संघर्ष करता है, संबंधों की नई व्याख्या करता है और हर प्रकार अपने व्यक्तित्व की खोज व संतुष्टि के लिए सूत्र जोड़ता है। किन्तु किसी भी संबंध की स्थिरता, सिर्फ स्थिरता ही नहीं, उसका कुल अस्तित्व ही प्रतिबंधों पर आश्रित है। सभी मूल्य किसी-न-किसी तरह के स्वेच्छा से बांधे बंधनों का परिणाम हैं। यदि तर्क को लंबा खींचा जाए तो स्वतन्त्रता की खोज और घोषणा की आवश्यकता स्वयं में एक मानसिक प्रतिबंध है।

सामान्यतः 'सेंसर' शब्द में जिन आरोपित प्रतिबंधों से तात्पर्य होता है, उनके पीछे मुख्य प्रेरणा रहती है—समाज की स्वस्थता। अनुत्तरदायी नागरिक के लिए यह संस्था एक ऐसे कॉम्प्यूटर का काम करती है जिसकी सारी शक्तियां सामाजिक शास्त्र पर केन्द्रित करके उससे एक समाधान मांगा जा रहा है। इस उद्देश्य को

सामने रखने के बाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ज्यादा गुंजाइश नहीं रह जाती है। विद्यापति-पदावली के प्रणय-प्रसंग किसीको यदि कामुकता की ओर झुकाते हैं तो क्या उनका संगीत, माधुर्य और सौंदर्य दूसरे को भक्ति और कविता की ओर प्रेरित भी नहीं करते ? जो एक के लिए दवा है, वही दूसरे के लिए दर्द। सब 'दर्गद' को पढ़कर विकृत नहीं हो जाते और जिसमें इस भावना के अंकुर हैं, वे उसे पढ़ने के बाद जरूर फूटेंगे—इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता। जो स्वस्थ है, वह अपनी रक्षा स्वयं कर सकता है। जो अस्वस्थ है, उसके लिए रोग की रोक-थाम आवश्यक है। उपचार निकाला गया—प्रतिबंध।

हिक्लिन टैस्ट

हम मान लेते हैं कि सम्पूर्ण समाज को स्वस्थ बनाए रखने के लिए कुछ का बलिदान देना ही होगा। मान लिया कि कला, सुंदरता, व्यक्तित्व सबको सामूहिक भलाई की भेंट चढ़ा दें। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि यह कैसे तय होगा कि क्या पाप है, क्या पुण्य ? क्या ग्रहणीय है, क्या त्याज्य ? क्या श्लील है, क्या अश्लील ? ब्रिटेन 'हिक्लिन टैस्ट' को मानता है, अमेरिका उसे अस्वीकारता है। उसका कहना है कि ये वाणी और प्रेम दोनों की स्वतन्त्रता में अवैधानिक रूप से बाधक है। भारत में इसी टैस्ट के आधार पर न्यायाधीश हिदायतुल्ला ने डी० एच० लॉरेंस की 'लेडी चेटरलीज लवर' को अश्लील घोषित किया। आश्चर्य की बात यह कि इस पुस्तक पर से अमेरिका और इंग्लैंड में अश्लीलता का दोष हटा लिया गया और काम-सूत्र के रचयिता वात्स्यायन के देश में, जहां मिथुन-रत मूर्तियों से सुसज्जित मंदिरों की छाया में सारे दिन बच्चे खेलते हैं, इसपर प्रतिबंध लगा दिया गया। एक बात और। यह कहां तक ठीक है कि कोई भी एक व्यक्ति किसी कृति की साहित्यिकता और अश्लीलता को दो पलड़ों में रखकर तोल डाले ? वह अपने परिवेश और परिस्थिति से बंधकर ही निर्णय ले पाता है। वह निर्णय सर्वांगीण कैसे हो सकता है ?

भारत में सेंसर फिल्म के क्षेत्र में सबसे अधिक कार्यशील है। यहां भी इसका प्रारंभ सेक्स की ही रोक-थाम से हुआ। परिणामतः मूक चलचित्रों में स्वीकृत 'चुम्बन' बोलती फिल्मों से उड़ा दिए गए। धीरे-धीरे प्रणय-संबंधी बंधन इतने दृढ़ हो गए कि न फिल्म-निर्माता उन्हें तोड़ते थे, और न ही सेंसर की कैंची हर क्षण उनपर रहती थी। अब सेंसर की दृष्टि राजनीति पर अधिक केन्द्रित हुई। सरकार की नीति धर्म-निरपेक्षता की है तो सेंसर यह देखने में व्यस्त है कि किसी जाति पर तो आंच नहीं आ रही ? राज्यसभा, लोकसभा, मंत्रिगण, अन्तर्राष्ट्रीय समझौते, सरकार—सबपर कटाक्ष, व्यंग्य, हास्य वर्जित है। भारतीय फिल्म सेंसर ने १६१८ से आज तक विशेष परिवर्तनों की मंजिलें तय नहीं की हैं। पहला महत्त्वपूर्ण

परिवर्तन १९४९ में हुआ जब फिल्मों के दो वर्ग बनाए गए—'ए' और 'यू' (केवल वयस्कों के लिए तथा सर्वसामान्य के लिए)। आज के दिन इस बोर्ड के नौ सदस्य होते हैं और एक चेयरमैन इसका संचालन करता है। ये सदस्य लब्ध-प्रतिष्ठ नागरिक होते हैं और निःशुल्क कार्य करते हैं। संभवतः अपनी प्राथमिक व्यस्तताओं के कारण ही ये पूरा समय और ध्यान प्रतिबंध-कार्य को नहीं दे पाते।

आधुनिक चलचित्रों में चुम्बन तो नहीं हो सकता था, किन्तु और ऐसे सैंकड़ों कामोत्तेजक इंगित और क्रियाएं क्षम्य माने गए जो नैसर्गिक अधर-मिलन से कहीं ज्यादा प्रभावोत्पादक और अधकचरे मन के लिए हानिकारक हैं। अभिनेत्री के उघड़े कंधे सेंसर की कैंची सजग कर होते हैं किन्तु 'फर्ज' जैसी फिल्मों की ओर से, जिसमें नायक-नायिका के हाव-भावों के संदर्भ में रति की विभिन्न मुद्राओं की चर्चा हर जबान पर आई—सेंसर लापरवाही से आंखें मूंद लेता है।

अकसर विदेशी फिल्में भारत में प्रदर्शित करने से पहले उनमें से रूस, अमेरिका, मार्क्सवाद जैसे शब्द, अश्लील (?) वाक्यांश, आधे-पौने दृश्य—बिना कलात्मकता का ध्यान रखे—छांट डाले जाते हैं। परिणाम होता है—दृश्य से दृश्य पर उछलनी, प्रसंग व संदर्भहीन, मूल कृति की व्याकृति मात्र। क्या इससे कहीं अच्छा यह न होगा कि हम ईमानदारी से अपने को भीरु, जनता को अवयस्क और बौद्धिकों को उदासीन मान लें और इन 'आपत्तिजनक' फिल्मों का पूर्ण बहिष्कार कर दें? यदि 'बौनी एण्ड क्लाइड' जैसी फिल्में, जिनमें नृशंस युवा हत्यारों के प्रति सहानुभूति जागती है, आपत्तिजनक नहीं हैं तो अभिनेत्रियों के वास्तविक जीवन का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण करने वाली 'वैली आफ डॉल्स' पर सेंसर का इतना रोष क्यों?

सच तो यह है कि पचासी वर्षों से कला के क्षेत्र में इतनी स्वतन्त्रता नहीं ली गई थी जितनी मध्य-बीसवीं सदी में ली गई। सिने-संगीत, फैशन, विज्ञापन, साहित्य, चित्रकला सभी में खुलापन और साफगोई बढ़ रही है। कलाकार और साहित्यकार इस नई उन्मुक्तता का स्वागत करते हैं लेकिन भारत में अभी ऐसे वर्ग की ही प्रधानता है जो इससे क्षुब्ध और आतंकित है। पश्चिम में, द्वितीय विश्व-महायुद्ध ने सारे मान्य बंधनों को छिन्न-भिन्न कर दिया। भारत के बुद्धिजीवी भी इस हवा से अछूते नहीं रह सकते थे। यों हमारी परंपरा और नीतिग्रंथ 'सेक्स' के विषय में पूर्ण प्रगतिवादी रहे हैं। 'ऋग्वेद' में कामार्त्त देव-गुरु बृहस्पति अपने भाई की गर्भिणी पत्नी ममता पर बलात्कार करते हैं। वेद रचयिता ने उन्मुक्त और विशद् वर्णन किया है:

"बृहस्पति!" गर्भस्थित भ्रूण ने बृहस्पति के शुक्रोत्सर्ग के समय कहा, "मैं यहां पूर्व से ही संभूत हूं।"

"बैठा रह," बृहस्पति ने उपेक्षापूर्वक कहा और वे साहस करने लगे। गर्भ का

प्रतिरोध बढ़ता गया। कामोत्तेजना में ठेस लगती गई। रति-सुख में बाधा पड़ती गई। अतृप्त वासना की प्रतिक्रिया प्रतिहिंसा में हुई।

आधुनिक युग में, फिर से, रोने और गाने की तरह ही नैसर्गिक रूप में यौन को स्वीकार करने की बात उठाई गई है। रूढ़िवादी भी, चाहे पूरी तरह इस बात को न मानें, काफी हद तक संकीर्णता से स्वतः हटते जा रहे हैं। प्रसिद्ध अमेरिकी वकील एफराइम लण्डन का कहना है, "फिल्मों और पुस्तकों का नियंत्रण अब सिर्फ अपनी रुचि का प्रश्न रह गया है। आज कोई भी ऐसी चीज नहीं रह गई जो यदि सुरुचिपूर्ण है तो दिखाई या बताई न जा सके। न्यायालय भी जब किसी वस्तु को अश्लील बताते हैं तो वे नैतिक मूल्य की बात नहीं कर रहे होते, वस्तु को सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टि से अस्वीकार रहे होते हैं।"

इसके अर्थ यह, कि 'यौन' अश्लील नहीं है। तो क्या जहां यौन-विकृतियां हैं—अश्लीलत्व वहां है? फिर प्रश्न उठता है कि विकृति क्या है? ब्रिटेन में सम-लिंग कामुकता यदि कानूनन स्वीकृत हो सकती है तो इस प्रश्न का सम्पूर्ण उत्तर देना बहुत कठिन हो जाता है। चाहे अरसे से निषिद्ध होने के कारण और चाहे फ्रॉयड की भाषा में 'लिबिडो' होने के कारण—यौन, युवावर्ग के लिए सबसे बड़ा आकर्षण का केन्द्र है। तभी चेकोस्लोवाकिया के रूस-विरोधी सुधारकों पर यह आरोप लगाया गया कि उन्होंने बाजार को अश्लील साहित्य से पाट दिया है ताकि यहां का युवक उस कीचड़ में पैठ जाए और राजनीति की ओर से मुड़ जाए।

अर्नेस्ट हॉग के इस कथन में काफी सत्य जान पड़ता है कि "अश्लीलता सर्वदा विकृत अश्लीलता तक पहुंचाकर रहती है। अश्लीलता संभोग-क्रिया को अवै-यक्तिक और अमानुषिक बना देती है।" यह भावना किशोरावस्था में अधिक आर-पित करती है। वह समय अपने-आपमें मनुष्य के जीवन का सबसे कठिन समय होता है। उस डांवाडोल स्थिति में अश्लीलता से परिचय हो जाने से जीवन का स्वस्थ यथार्थ हाथ से बिल्कुल ही निकल जाता है। अश्लील रचनाओं का केवल एक उद्देश्य होता है—भड़काकर कृत्रिम यौन-संतुष्टि देना। इसके विपरीत कला, कलात्मक अनुभव व अनुभूति की व्याख्या करती है और उसके महत्त्व को उद्भूत करती है।

इंसान का दिमाग शैतान का घर है। उसपर पहरे तो बिठाए जाते हैं लेकिन शैतान भी अपने कारनामों में नहीं चूकता। उसका सबसे कारगर हथियार है—तर्क। इसीलिए वह जब-तब कभी दूसरे के सामने सफाई पेश करने के लिए और कभी खुद अपराध-भावना से मुक्त होने के लिए नई व्याख्याएं कर लेता है। ग्राहम ग्रीन के उपन्यास 'द मैन विदइन' में एक वृद्ध का चित्रण है जो युवावस्था में की गई अपनी धोखाधड़ी से संतप्त है। एक दिन अनायास वह बाइबल में से उस बेईमान नौकर की कहानी सुनता है जो अपने मालिक के कर्जदारों के साथ

धोखा करके पैसा बनाता है और उसका मालिक उसे इस बुद्धिमत्ता पर बधाई देता है। कहानी सुनते ही इस वृद्ध की आत्मग्लानि दूर हो जाती है और इसे लगता है कि बाइबल में बेईमानी को पाप नहीं माना गया है। उसी दिन से वह बाइबल पढ़ना बन्द कर देता है क्योंकि अब उसे किसी सहारे की आवश्यकता नहीं रही है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी से शरीर का पेशा करवाए और कहे कि पांडवोंने भी तो द्रौपदी कोजुए पर दांव पर लगाया था तो यह व्यक्ति को अपराध-भाव से गलत छुटकारा दिलाने वाली सुविधावादी व्याख्या भर होगी।

असल में अश्लीलता और नियंत्रण दोनोंही आवश्यक हैं और दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं। अश्लीलता उसी तरह जीवन का आवश्यक अंग है जैसे मनुष्य के भीतर क्रोध की भावना। भीतर के पशु का न तिरस्कार किया जा सकता है न उपेक्षा। लेकिन यह भी आवश्यक है कि पशु के लिए एक रास भी हमारे हाथ में हो अन्यथा समाज और भी अधिक दरदरा, पैशाचिक, भयभीत, असम्पृक्त, व्यक्तित्वहीन और भोगवादी हो जाएगा। मानवीय परिवेश बिल्कुल ही टूटकर बिखर जाएगा। अतः स्वाधीनता और नियंत्रण दोनों साथ-साथ रहने चाहिए।

समाज के प्रतिपल पिघलते, बदलते मूल्यों में हरएक परिभाषा कठिन होती जा रही है। समरसेट मॉम अपनी पुस्तक 'द मून एण्ड सिक्स पेंस' में एक ऐसे चित्र की चर्चा करते हैं जो चित्रकार द्वारा उसके डॉक्टर को भेंट किया गया। किन्तु डॉक्टर की पत्नी उसे बैठक में टांगने से कतई इनकार कर देती है, क्योंकि 'वह अश्लील है'। वह उसकी नग्न, उत्तेजक रेखाओं और उघड़े, सहलाते रंगों को सह नहीं पाती। क्या है वह चित्र ? महज एक फलों की टोकरी—केले, संतरे, और आमों की छोटी-सी ढेरी। यदि फलों का चित्र 'अश्लील' हो सकता है तो इस शब्द के अर्थों की थाह नहीं।

मिनी मोटरगाड़ी

बसों के लिए इन्तजार करती बेसब्र कतार, ऑफिस पहुंचने के समय से आगे भागी जाती घडी, जेब मे पडे सिनेमा के हताश टिकट, शहर के गर्म, बदसूरत माहौल मे कही दूर निकल जाने की आकांक्षा, टैक्सी और स्कूटर-चालकों की दया के आगे फैला मानो अपना भिक्षा-पात्र और सबकी आखों में एक ही सपना —दरवाजे से लगी एक प्यारी-सी छोटी मोटरकार। क्या इस जैट-युग मे अनगिनत आकर्षणों से खिचते मन के लिए यह सपना गलत है ? गलत क्या—मानसिक विलास तक नही है। अपनी सवारी, सुपर मार्केट की तरह आज की जिंदगी की जरूरत है।

इंसान ने पानी पर चलना चाहा और जहाज बनाया, लम्बे रास्ते तेजी से तय करने चाहे और जमीन की छाती पर पटरिया बिछा दी, परिन्दो की तरह उड़ने के लिए एल्युमिनियम के पंख पसार दिए—ब्रह्माण्ड के सितारों की तरफ हाथ फैला दिया।...फिर भी असंख्य लघु-मानव एक नन्ही 'लघु मोटर-कार' के सपने देखते जनमते हैं और—और क्या—बस,सपने देखते ही रहते हैं। हम भारतवासी तो यों भी स्वप्नदृष्टा और सन्तोपी जीव हैं। एक तरफ तो अमेरिका मे हर दो व्यक्ति पर एक गाडी का औसत है और दूसरी तरफ हम लगभग ६०० व्यक्ति प्रति गाड़ी पर सब्र किए बैठे हैं। लेकिन एक सुबह अखबारों ने एक खबर छापी जिसे पढकर हमारे सोए हुए सपने पख फडफडाने लगे।

कार की भारी कीमत को ध्यान मे रखते हुए सरकार ने एक कम कीमत वाली जनता कार, बेबी कार, मिनी कार—जो नाम आपको पसन्द हो- —बनाने का इरादा किया। १९४९ मे भारतीय कल-पुर्जे लगाकर देसी गाडी का निर्माण कर लेने मे सस्ती छोटी गाडी की सम्भावना भी बढ गई थी। लेकिन नन्ही बिटिया की परवरिश ठीक न हो पाई। सुझावो की टकराहट, विदेशी मुद्रा का

अभाव और प्राथमिकता का प्रश्न—इन सबकी हड़बड़ी में उसके गले में तो घुट्टी भी न उतर सकी। वर्षों, कई बार जनता की आंखों में आशा की चमक आई और बुझ गई। तब यह सुनने में आया कि 'चौथी पंचवर्षीय योजना को आखिरी शक्ल' देने से पहले बेबी कार पर निर्णय ले लिया जाएगा। यों अन्तिम निर्णय लेने की बात किसी-न-किसी मन्त्री द्वारा लगभग दो दर्जन बार दोहराई जा चुकी है।

बेबी कार की कहानी हमें दशकों पीछे देखने को बाध्य करती है। इसकी लुकाछिपी भारतीय चलचित्रों के नायक-नायिका की आंखमिचौनी से कम दिलचस्प नहीं। इसमें भी उम्मीद लगातार अपना पार्श्व-संगीत देती रही है। जनता से वायदा किया गया था कि पहली पंचवर्षीय योजना की समाप्ति से पहले उनकी प्यारी गाड़ी भोली गाय की तरह, उनके आंगन में बंधी होगी। लेकिन सितारों की गर्दिश कुछ ऐसी रही कि मिनी-योजना ने दूसरी सांस कहीं जाकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना के दौरान ली जब सरकार ने इसके बारे में जांच-पड़ताल के लिए 'झा कमेटी' की स्थापना की। १९६० में कमेटी का निर्णय आया : "यह गाड़ी बननी चाहिए।"

मसला बड़ा था और आप जानें, भला एक कमेटी की इतनी बिसात कहां कि उसका फैसला एकदम मंजूर हो जाए ! सो, 'झा-कमेटी' के सुझाव की छानबीन के लिए एक दूसरी कमेटी बिठाई गई—'पांडे-कमेटी'। लेकिन पांडे और झा तो भाई-बिरादर निकले। १९६१ में 'पांडे-कमेटी' ने भी कहा कि कार जरूर बने और लागत उसपर आए ५,००० रुपये। कहावत भी है कि एक से दो भले। इन दोनों कमेटियों ने हरी झण्डी दिखाकर जनता की आशा-गाड़ी आगे बढ़ाई।

निर्णय देना एक बात है और उसपर अमल करना दूसरी। चार साल और गुजर गए। फिर अचानक १९६५ में खबर मिली कि बेबी कार की गर्द-भरी फाइलों को फिर झाड़ा जा रहा है। कहा गया कि बेबी कार जरूर बने लेकिन पब्लिक सेक्टर में। यह पता न लग सका कि जर्मनी, फ्रांस, जापान, यूगोस्लाविया इत्यादि पचीस देशों के सहयोग-सुझावों का क्या हुआ ? बुद्धिजीवियों के सामने इतना जरूर खुला कि चाल कुछ टेढ़ी है, क्योंकि पब्लिक सेक्टर का स्वाद जनता खूब चख चुकी है। एच० एम० टी० घड़ियों की मरम्मत के इन्तजार में लगातार बढ़ती कतार ही मिसाल के तौर पर ली जा सकती है। कुछ अर्थशास्त्रियों का अन्दाजा था कि पब्लिक सेक्टर में अगर मिनी कार बनी भी तो उसकी कीमत आखीर में जाकर १२,००० से १४,००० रुपये के बीच बैठेगी।

सरकार भी बेचारी क्या करे ? वह खुद अपनी सरकार कहां है ? लोकसभा में गूंजें और अनुगूंजें उठीं। देश के तीनों गाड़ी-निर्माताओं में खलबली मच गई। आखिर उनके रोष और असहयोग के आगे सरकार को हथियार डालने पड़े। हर बार छोटी कार की योजना उठती और कोई-न-कोई मुश्किल दीवार बनकर

खड़ी हो जाती। बरसों की कोशिश के बाद एक दीवार पार होती तो सामने नई तथा और ऊंची दीवार तैयार मिलती। इसके अलावा फाइलों के न जाने कितने छोटे-छोटे टीले और गले में फन्दे-सा कसता मीलों लम्बा लाल फीता।

बेबी कार के क्या अर्थ हैं और उसकी क्या रूपरेखा होगी, इस बारे में कोई उलझन नहीं होनी चाहिए। हर बार हमें यही पता चला है कि वह पांच या छः सीट वाली होगी, नियोजित परिवार के लिए बनी कम कीमत वाली कार होगी। 'पाण्डे-कमेटी' ने अपनी रिपोर्ट में (जिसे आज तक जनता के सामने रखा न गया) एक और महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया था। इस छोटी गाडी को बनाने के लिए देश में दिनों-दिन बढ़ते कल-पुर्जे-उद्योग पर निर्भर करना होगा। इस उद्योग में पचास करोड़ की पूंजी लगी हुई है। इन चीजों में ईमानदारी और बेईमानी के अनुपात की मात्रा किसी से छुपी नहीं। क्या भरोसा कि इसमें बनी गाड़ी अचानक किसी मोड़ पर टूटी आशा की तरह बिखर न जाएगी या परियों के सपनों की तरह धुएं और लपटों में अन्तर्धान न हो जाएगी? खैर, खतरों का नाम जिंदगी है। वैसे भी गरीब आदमी को बहुत मुसीबतें उठाने की आदत है।—निरंतर टूटते कल पुर्जों के बीच अगर यह अपनी जिंदगी की गाडी ठेल सकता है तो क्या मिनी गाडी नहीं? उसके पास दूसरा इलाज भी क्या है? उसके लिए गाडी बनाएंगे, 'बड़े लोग'? वे जिन्हें, देसी कल-पुर्जा-बाजार में कोई वास्ता नहीं, क्योंकि उनकी सवारियां हैं—ब्रॉंज, पोलारा, मर्सेडीज, बेंज, फोर्डजेफर, शेवरले, इम्पाला वगैरा। मिनी गाड़ी तो अमीर भाई का गरीब भाई को दान है, और दान के घोड़े के दांत नहीं देखे जाते।

फिलहाल तो जनता जानना चाहती है कि अपनी मिनी-आशा पूरी करने के लिए वह किस मन्त्र का जाप करे? सारे देश में मोटरगाडी बनाने वाले केवल तीन उद्योग हैं। जितनी गाडियां एक साल में बनकर तैयार होती हैं, उससे ज्यादा नई गाडियों की बुकिंग उस साल में हो जाती है। नतीजा यह कि कार के उम्मीदवारों की लाइन बढ़ती ही जा रही है, साथ ही बढ़ रहा है—काला बाजार और पुरानी गाड़ियों की लीपा-पोती का धन्धा। ऐसी सभी गाडियां सड़कों पर दौड़ती-दौड़ती खांसने लगती हैं और बिना नोटिस ठिठककर खड़ी हो जाती हैं। फिर यातायात रुक जाता है और कन्धे-से-कन्धा टकराती गाडियां दुर्घटनाओं का वातावरण तैयार कर देती हैं। किसी कार की आंख ज्योतिविहीन हो जाती है कोई तीन टांगों पर टंगी रह जाती है, कोई घुटने टिका देती है। कोई आश्चर्य नहीं कि इन हालात में ज्यादा-से-ज्यादा लोग अपने भीतर के कलाकार को अपनी कार की सजावट में सन्तुष्ट करने लगें और दिल्ली की सड़कों पर दौड़ती चित्रकार मकबूल फिदा हुसैन की अद्भुत कार की कई साथिनें तैयार हो जाएं।

आह! नन्ही-सी जान और आफतें बेशुमार। इन ऊबड़-खाबड़ सड़कों पर

वेची कार कितने दिन सांस ले पाएगी ? फिर टैक्स की ऊंची दरें। हमारा देश इस क्षेत्र में भी तो बाजी मार गया है। आय-कर की तरह कार-कर भी विश्व-भर में सबसे ऊंचा भारत में है। मुश्किलें ज्यादा होती हैं तो हौसले भी उतने ही बुलन्द हो जाया करते हैं। ऐसा न होता तो इंसान आज भी छाल से नग्नता ढकता, चकमक से आग जलाता घूमता। लोकसभा में तत्कालीन मंत्री महोदय रघुनाथ रेड्डी ने इस सूचना की पुष्टि की कि संजय गांधी द्वारा प्रस्तावित ६,००० रुपये की और पूर्णतः भारतीय कल-पुर्जों से निर्मित मिनी कार बनाने की योजना पर सरकार सोच-विचार कर रही है। सरकार ने सोच-विचार किया, निर्णय संजय गांधी के पक्ष में दिया और संजय की संजीवनी पूरी कांग्रेस-सरकार के लिए काल-कूट बन गई...।

लेकिन अमरबेल यों मरती तो उसका नाम न बदल गया होता। 'जब तक सांस तब तक आस' का वरदान लेकर इंसान पैदा हुआ है। बम्बई के एक कोने से खबर उठी—एक उद्योगपति ने कम खर्चीली, तीन दरवाजों वाली 'मीरा' का नमूना तैयार किया है। कोल्हापुर जिले की एक प्रदर्शनी में यह इस आश्वासन के साथ घूंघट उठाकर आई कि सन् ७७ तक यह आपकी हो जाएगी। कीमत कुल १२,००० और इसके कल-पुर्जों का निर्माण महाराष्ट्र में होगा और कारखाना प्रतिमाह ५०० कारों का निर्माण करेगा।

गाड़ी बाद में, प्रतियोगिता की दौड़ पहले। सन् ७६ की अप्रैल में स्कूटर्स-इंडिया ने घोषणा की कि वे तीन पहियों वाली प्रति लिटर २० कि० मी० चलने वाली 'मिनी' बना रहे हैं। ये नन्ही-सी जान ६०० कि० ग्राम वजन उठा सकती है—यानी छः व्यक्ति इसमें समा सकते हैं। गाड़ी की सक्षमता को ध्यान में रखते हुए इसकी रु० १७,००० कीमत ज्यादा नहीं जांची गई।

रेस में एक और गाड़ी आ उतरी। गुजरात के एक पिछड़े प्रदेश से पांच सीटों वाली मिनी गाड़ी की योजना के स्वर सुनाई पड़े। इंजीनियर—उद्योगपति मोहन भाई मिस्तरी ने बताया कि वे १९६७ से 'माया' पर काम कर रहे थे। अब इसकी अंतिम परीक्षा 'वेहिकल रिसर्च एस्टेब्लिशमेंट' में हो रही है।

वादों और दावों के बीच एक छोटी-सी गोल-मटोल गाड़ी कभी-कभी सड़कों पर फिसलती नजर आने लगी। निराशा की बरसात में एक इन्द्रधनुष निकला—यह 'बादल' कर्नाटक की सनराइज ऑटो इंडस्ट्रीज द्वारा तैयार की गई। यह अद्भुत 'बादल' कठिन परीक्षाओं की आंधी से विजयी निकलकर अहमदाबाद के रिसर्च एण्ड डेवलपमेंट एस्टेब्लिशमेंट से मान्यता पा चुकी थी। उद्योग प्रबंधक निदेशक आर० के० सिपानी के अनुसार, इसका बाजार-मूल्य कुल १५,००० रु० था, कर्नाटक में १५० बादल-कारें टैक्सी के रूप में चल रही थीं और एक पारी के काम से ही कारखाना २५० वाहन प्रतिमास निकाल रहा था। यह एक लीटर पेट्रोल

के आहार पर २५ कि०मी० का सफर तय कर सकती थी और इसका जिस्म पूर्णतः तंतु-काच और पॉलिएस्टर से बना था।

आह ! क्या यातायात की झुलसाती लू में एक प्राणदायी बदली छा गई। लेकिन कहां ? बात यह है कि हम भारतवासी भाई-चारे से रहते हैं और घर हो या बाहर, जरा एक-दूसरे को ठेलते-टकराते चलने में अपनी सामाजिकता का इजहार करते हैं। अगर टीन, लोह हों, ठोक-पीटकर समतल कर भी लें लेकिन बादल के नरम, नाजुक जिस्म को ठेस लगी और उसमें एक बल आया नहीं कि पूरा पॉलिएस्टर शीशा ही चटक जाएगा। मोटरगाड़ी रखने वाले तुलनात्मक तौर से कुछ अमीर हो सकते हैं लेकिन मूलतः वे एक गरीब देश के प्राणी हैं। उनके सामने गाड़ी खरीदने से पहले दो अहम् सवाल होते हैं—(१) फायदे-नुकसान के आंकड़े क्या हैं ? और (२) उसकी 'री-सेल वैल्यू' क्या है ? इस तर्क के आगे 'मिनी', 'मैक्सी' सभी गाड़ियां चित हो जाती हैं।

एक और गर्दिश का सितारा मध्य-एशिया के तेल-कूपों से निकलकर सारी दुनिया की तरफ धूमकेतु की तरह लपक रहा है। उसकी आंच से अमेरिका जैसा समृद्ध देश झुलसा जा रहा है, फिर हमारी क्या बिसात ? तो क्या यह मिनीगाड़ी की लम्बी दौड़ बेकार ही है ? कहते हैं, दुनिया में यातायात-समस्या हल करने का एक ही उपाय है—चुस्त सार्वजनिक यातायात व्यवस्था। तो अब दो ही सूरतें सामने रह जाती हैं—या तो बेबी-कार को बेबी-बस में बदला जाए या डीजल से चलने वाली छोटी गाड़ियों को बनाने की एक नई फाइल खोली जाए। और तब तक जिस्मानी गाड़ी में दो पहिये लगाकर पैदा करने के लिए खुदा की नेमत का शुक्र अदा किया जाए।

युवा-अशांति क्यों ? : रचनात्मक दिशाएं

नारे लगाते युवक, बसों को फूंकते, कुलपतियों के ऑफिस के बाहर धरना देते, बांहें फैलाए, चीखते-चिल्लाते सारी दुनिया को धकियाते, रोज सुबह अखबारों के साथ हर घर में घुस आते हैं। ऑफिस जाने की भागाभागी में पिता हमेशा उन युवकों में पड़ोसी के बच्चे का चेहरा देखता है, अपने बेटे का नहीं। मां सिर्फ परेशान होकर रह जाती है कि उसका बेटा समय से खाना खाने नहीं आता, न जाने कहां भटकता फिरता है। जिस दिन से वह सिर फुड़वाकर या आंसू-गैस से आंख सुजाए घर लौटता है या विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिया जाता है, उस दिन माता-पिता चौंकते हैं और फिर पड़ोसी के लड़के को गाली देते हैं, जिसकी सोहबत में उनका होनहार बेटा बिगड़ गया। उन्हें समझ में नहीं आता कि उनका लड़का ऐसे तोड़-फोड़ के काम क्यों करता है, ऊलजलूल बातें क्यों करता है, पढ़ता-लिखता क्यों नहीं, विद्रोही क्यों हो गया ?

युवा-विद्रोह का एक दूसरा रूप भी अखबारों के माध्यम से हमारे सामने आता है कि एक गरीब लड़का भीड़ में औरत का पर्स छीनकर भाग गया, गले की चेन खींच ली, या चार धनी परिवार के लड़कों ने किसीकी गाड़ी उड़ा ली, किसी जौहरी की दुकान से हीरों का हार गायब कर दिया, पिस्तौल दिखाकर शराब की दुकान से विलायती शराब की बोतलें उड़ा लीं।

तीसरा रूप दिखता है युवकों के लंबे बालों में, गले में झूलती मालाओं में, आंखों में छाए चरस, गांजे और मरजुआना के नशे में, अमेरिकी स्लैंग व उच्चारण में और स्वच्छंद यौन-व्यवहार में। वे बात करते हैं आत्मोन्नति, भगवान और प्रेम की, फूल-शक्ति की, ईर्ष्याहीन सामूहिक प्रणय-भाव और भेदरहित समाज की; लेकिन एक राक्षस का तिरस्कार करते हुए दूसरे जिन्न के वशीभूत हो बैठते हैं, जो बाह्य रासायनिक प्रभावों से उनके तन-मन का संचालन कर रहा है।

इस दलील को नकारा नहीं जा सकता कि यह समस्या आज के बढ़ते हुए विज्ञान और तकनीकी उपलब्धियों की देन है। भारत अथवा पश्चिमी एशिया बहुत खुशहाल नहीं लेकिन फ्रांस और अमेरिका तो हैं। फिर वहां क्यों आए दिन दंगा-फसाद होता रहता है? पहले क्रान्ति सामाजिक या धार्मिक अन्यायों के विरुद्ध हुआ करती थी। आज छोटी-छोटी समस्याओं को लेकर अनु-क्रान्तियां आ उपस्थित होती हैं। लेक्चर हॉल का छोटा होना, परीक्षा-पद्धति में सुधार या शिक्षा-संस्थानों में छात्र-प्रतिनिधित्व की कमी—बहाना कोई भी लिया जा सकता है। फिलिस्तीनी-युद्ध अथवा देशव्यापी भ्रष्टाचार—इस तरह का कोई अहम् सवाल लेकर ये क्रांतियां नहीं होतीं। ये आंदोलन दूर या पास की प्राथमिक कठिनाइयों पर प्रतिक्रियाएं नहीं हैं। तो क्या उन्हें समसामयिक समाज के प्रति विद्रोह की गूंज माना जाए? रूसी भाषा में एक कहावत है: 'अधिक चर्बी से पगलाना'। किंतु देश चाहे आर्थिक रूप से धनी हो या निर्धन—सभीमें आज युवक स्वयं को असम्पृक्त महसूस कर रहा है। वह ऐसे समाज के बीच जी रहा है जहां उसपर अलगाव, विरक्ति, यान्त्रिकता और अमानवीयता के दबाव हैं। कहीं भी उसे वैयक्तिक स्पर्श नहीं मिल पाता। ऐसी दशा में समाज जो सुरक्षा और समृद्धि उसे देता है, वह भी व्यर्थ हो जाती है। परम्परागत शिक्षा-प्रणाली इतनी दोषपूर्ण एवं एकांगी है कि वह भी छात्र को इनसे उबरने की सामर्थ्य नहीं देती।

आधुनिक समाज की समस्याएं प्रमुखतः विज्ञान और प्रविधि की देन हैं। उदाहरणार्थ, अमेरिका में रंग-भेद की समस्या कृषि के यन्त्रीकरण से उपजी है। यन्त्रों ने जब किसानों की जगह ले ली तो अनेक ने दक्षिण के देहातों से हटकर उत्तर के उद्योगों में भीड़ लगा दी। वहां भी अप्रशिक्षित मजदूर की पूछ नहीं थी। इस भीड़ और आपाधापी ने वैमनस्य को जन्म दिया, सहानुभूति समाप्त हुई। संचार के इतने अधिक साधन हो गए हैं कि दूरस्थित व्यक्ति भी उनके माध्यम से विकास के चरमोत्कर्ष पर पहुंचे हुए व्यक्तियों के रहन-सहन व सुविधाओं से परिचित हो गया है। यह परिचय इच्छा जगाता है और वही इच्छा असन्तोष की जननी बन जाती है। इन कारणों को समझनेवाला युवा-नेता एक ऐसे समाज की मांग करता है जो चाहे इतना योजनाबद्ध न हो, इतना विकसित न हो किन्तु जहां हर व्यक्ति का योगदान हो सके, जहां लोकतन्त्र को मान्यता मिले। एक ऐसी व्यवस्था जिसमें सामूहिकता होते हुए भी व्यक्ति की इकाई नजरअन्दाज न हो जाए।

आज का संसार एक खण्डित इकाई है। शस्त्र-दौड़ पर बेहिसाब खर्च करता, आधिक्य के बीच जड़-निर्धनता के द्वीपों वाला, शहरी विलासिता से गलता, व्यर्थ शिक्षा पाता। ऐसा संसार युवक को सुरक्षित नहीं बनाता। स्थिति इतनी अस्थिर हो गई है कि न इस पीढ़ी को और न आनेवाली पीढ़ी को—अगले क्षण में अपने अस्तित्व का निश्चय है। अस्तित्व-विनाश का यह भय देशों को अपनी आर्थिक

युवा-अशांति क्यों ? : रचनात्मक दिशाएं

नारे लगाते युवक, बसों को फूंकते, कुलपतियों के ऑफिस के बाहर धरना देते, बांहें फैलाए, चीखते-चिल्लाते सारी दुनिया को धकियाते, रोज सुबह अखबारों के साथ हर घर में घुस आते हैं। ऑफिस जाने की भागाभागी में पिता हमेशा उन युवकों में पड़ोसी के बच्चे का चेहरा देखता है, अपने बेटे का नहीं। मां सिर्फ परेशान होकर रह जाती है कि उसका बेटा समय से खाना खाने नहीं आता, न जाने कहां भटकता फिरता है। जिस दिन से वह सिर फुड़वाकर या आंसू-गैस से आंख सुजाए घर लौटता है या विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिया जाता है, उस दिन माता-पिता चौंकते हैं और फिर पड़ोसी के लड़के को गाली देते हैं, जिसकी सोहबत में उनका होनहार बेटा बिगड़ गया। उन्हें समझ में नहीं आता कि उनका लड़का ऐसे तोड़-फोड़ के काम क्यों करता है, ऊलजलूल बातें क्यों करता है, पढ़ता-लिखता क्यों नहीं, विद्रोही क्यों हो गया ?

युवा-विद्रोह का एक दूसरा रूप भी अखबारों के माध्यम से हमारे सामने आता है कि एक गरीब लड़का भीड़ में औरत का पर्स छीनकर भाग गया, गले की चेन खींच ली, या चार धनी परिवार के लड़कों ने किसीकी गाड़ी उड़ा ली, किसी जौहरी की दुकान से हीरों का हार गायब कर दिया, पिस्तौल दिखाकर शराब की दुकान से विलायती शराब की बोतलें उड़ा लीं।

तीसरा रूप दिखता है युवकों के लंबे बालों में, गले में झूलती मालाओं में, आंखों में छाए चरस, गांजे और मरजुआना के नशे में, अमेरिकी स्लैंग व उच्चारण में और स्वच्छंद यौन-व्यवहार में। वे बात करते हैं आत्मोन्नति, भगवान और प्रेम की, फूल-शक्ति की, ईर्ष्याहीन सामूहिक प्रणय-भाव और भेदरहित समाज की; लेकिन एक राक्षस का तिरस्कार करते हुए दूसरे जिन्न के वशीभूत हो बैठते हैं, जो बाह्य रासायनिक प्रभावों से उनके तन-मन का संचालन कर रहा है।

इस दलील को नकारा नहीं जा सकता कि यह समस्या आज के बढ़ते हुए विज्ञान और तकनीकी उपलब्धियों की देन है। भारत अथवा पश्चिमी एशिया बहुत खुशहाल नहीं लेकिन फ्रांस और अमेरिका तो हैं। फिर वहां क्यों आए दिन दंगा-फसाद होता रहता है? पहले क्रान्ति सामाजिक या धार्मिक अन्यायों के विरुद्ध हुआ करती थी। आज छोटी-छोटी समस्याओं को लेकर अनु-क्रांतियां आ उपस्थित होती हैं। लेक्चर हॉल का छोटा होना, परीक्षा-पद्धति में सुधार या शिक्षा-संस्थानों में छात्र-प्रतिनिधित्व की कमी—बहाना कोई भी लिया जा सकता है। फिलिस्तीनी-युद्ध अथवा देशव्यापी भ्रष्टाचार—इस तरह का कोई अहम् सवाल लेकर ये क्रांतियां नहीं होतीं। ये आंदोलन दूर या पास की प्राथमिक कठिनाइयों पर प्रतिक्रियाएं नहीं हैं। तो क्या उन्हें समसामयिक समाज के प्रति विद्रोह की गूंज माना जाए? रूसी भाषा में एक कहावत है: 'अधिक चर्बी से पगलाना'। किंतु देश चाहे आर्थिक रूप से धनी हो या निर्धन—सभी में आज युवक स्वयं को असम्पृक्त महसूस कर रहा है। वह ऐसे समाज के बीच जी रहा है जहां उसपर अलगाव, विरक्ति, यान्त्रिकता और अमानवीयता के दबाव हैं। कहीं भी उसे वैयक्तिक स्पर्श नहीं मिल पाता। ऐसी दशा में समाज जो सुरक्षा और समृद्धि उसे देता है, वह भी व्यर्थ हो जाती है। परम्परागत शिक्षा-प्रणाली इतनी दोषपूर्ण एवं एकांगी है कि वह भी छात्र को इनसे उबरने की सामर्थ्य नहीं देती।

आधुनिक समाज की समस्याएं प्रमुखतः विज्ञान और प्रविधि की देन हैं। उदाहरणार्थ, अमेरिका में रंग-भेद की समस्या कृषि के यन्त्रीकरण से उपजी है। यन्त्रों ने जब किसानों की जगह ले ली तो अनेक ने दक्षिण के देहातों से हटकर उत्तर के उद्योगों में भीड़ लगा दी। यहां भी अप्रशिक्षित मजदूर की पूछ नहीं थी। इस भीड़ और आपाधापी ने वैमनस्य को जन्म दिया, सहानुभूति समाप्त हुई। संचार के इतने अधिक साधन हो गए हैं कि दूरस्थित व्यक्ति भी उनके माध्यम से विकास के चरमोत्कर्ष पर पहुंचे हुए व्यक्तियों के रहन-सहन व सुविधाओं से परिचित हो गया है। यह परिचय इच्छा जगाता है और वही इच्छा असन्तोष की जननी बन जाती है। इन कारणों को समझनेवाला युवा-नेता एक ऐसे समाज की मांग करता है जो चाहे इतना योजनाबद्ध न हो, इतना विकसित न हो किन्तु जहां हर व्यक्ति का योगदान हो सके, जहां लोकतन्त्र को मान्यता मिले। एक ऐसी व्यवस्था जिसमें सामूहिकता होते हुए भी व्यक्ति की इकाई नजरअन्दाज न हो जाए।

आज का संसार एक खण्डित इकाई है। शस्त्र-दौड़ पर बेहिसाब खर्च करता, आधिक्य के बीच जड़-निर्धनता के द्वीपों वाला, शहरी विलासिता से पनपता, व्यर्थ शिक्षा पाता। ऐसा संसार युवक को सुरक्षित नहीं बनाता। स्थिति इतनी अस्थिर हो गई है कि न इस पीढ़ी को और न आनेवाली पीढ़ी को—अगले क्षण में अपने अस्तित्व का निश्चय है। अस्तित्व-विनाश का यह भय देशों को अपनी आर्थिक

और राजनीतिक दोषपूर्ण नीतियों से नहीं है। उन्हें डर है—शक्तिशाली राष्ट्रों की स्वलीन राजकीय इकाइयों से, जो अपनी अधिकाधिक ताकत एक-दूसरे को परास्त करने में लगाने की सोचती रहती हैं। अमेरिका और यूरोप के कुछ छात्र-नेताओं ने कहा है कि हमारा आंदोलन आधुनिक तकनीकी सभ्यता को तोड़ने के लिए है। उन्होंने यह आशा भी व्यक्त की कि तोड़ने के इस प्रयत्न में ही नई-अधिक संवेदनशील जीवन-पद्धतियां स्वतः उठ खड़ी होंगे। कहीं ऐसा तो नहीं कि यह केवल एक भावुकतापूर्ण कदम है; तर्क-सम्मत, गम्भीर क्रांति नहीं, जिसकी असल जरूरत है।

जब हम युवक की बात करते हैं तो हमारे मन में विद्यार्थी का चित्र उभरता है, किन्तु वास्तव में देखा जाए तो विद्यार्थी युवा-वर्ग से कहीं बड़ा एक और युवा-वर्ग है जिसमें हर तरह का काम-काजी या बेकार युवक आता है। अफसर, क्लर्क, मजदूर, किसान, बोझा ढोनेवाला, ड्राइवर—सब इसमें शामिल हैं। गांव और शहर सभी जगह यह युवा-वर्ग है। लेकिन वास्तविकता यह है कि सामूहिक विद्रोह का प्रदर्शन या तो विद्यार्थी-वर्ग में होता है या मजदूर-वर्ग में। कारण यह कि वे ही सबसे ज्यादा सुसंचालित और व्यवस्थित हैं।

विद्यार्थी-वर्ग और मजदूर-वर्ग की सामाजिक और नैतिक समस्याएं समान होते हुए भी, आर्थिक व व्यक्तित्व-सम्बन्धी समस्याएं काफी भिन्न हैं। समाज में उनका स्थानीकरण भी इतना पृथक् है कि अकसर विद्यार्थी-वर्ग के आंदोलन की एक बड़ी आलोचना यह होती है कि वे ट्रेड-यूनियन के तौर-तरीकों को अपना रहे हैं, मानो यह करना भयंकर अपराध है।

विद्यार्थी और कामगार का यह विभेद काफी हद तक हमारी वैचारिक कंगाली और पिछड़ेपन को अभिव्यक्त करता है। आज के युवा-विद्रोह का प्रमुख कारण यही है कि शिक्षा और श्रम बिलकुल अलग क्षेत्र मान लिए गए हैं। विचारक-लेखक ज्यां पॉल सार्त्र ने एक बार फ्रांस के विद्यार्थी-नेता डेनियल कान-बेंदित से कहा कि विद्यार्थी-समूह एक वर्ग नहीं है. उसे आयु और ज्ञान के संदर्भ से जाना जाता है। पारिभाषिक रूप से विद्यार्थी वह है, जो किसी भी समाज में, सपनों के समाज तक में, एक-न-एक दिन अवश्यमेव विद्यार्थी नहीं रहता। इसका उत्तर देते हुए बेंदित ने कहा था कि यही विचारधारा मुसीबत की जड़ है। आज के नियमानुसार कुछ लोग अध्ययन करते हैं और कुछ काम कर रहे हैं। इस तरह हम सब सामाजिक कार्य-विभाजन (डिविजन ऑफ लेबर) के शिकार हो गए हैं। आज जरूरत है एक ऐसे युग की, कल्पना की, जहां पर हर कोई उत्पादन-कार्य। लगेगा और साथ-साथ विद्या-लाभ भी करेगा। कामगार और विद्यार्थी के विभेद को तोड़कर समानोत्तर श्रम व अध्ययन का सिद्धांत लागू करना होगा।

वर्तमान युवा-आंदोलन के भटकाव की जड़ यह है कि उसके पास अपनी

समस्याओं को समझने-बूझनेवाले, उन्हें रचनात्मक दिशा देने वाले युवा-नेता नही हैं। सब जानते हैं कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का वास्तविकता से कोई संबंध नही है। वह हमें जिंदगी का मुकाबला करने के लिए तैयार नही करती। वह हमारे भीतर स्वतंत्र चिंतन नहीं उपजाती। उच्च-शिक्षा के नाम पर ऊब और वाह्य संभावनाओं का एक ऊसर धरातल हमारे सामने खुल जाता है, जिसमें डिग्री का भोंपरा गुरुपा देकर हमें छोड़ दिया जाता है। जीवन-संग्राम में रत प्राध्यापक या तो अनुपस्थित होता है या नितांत आदर्शवादी पाठ पढ़ाकर, वास्तविकता से विसंगत करके युवा-शक्ति को जूझ-जूझकर खंडित होने के लिए छोड़ जाता है। सबसे मजे की बात यह है कि यह शिक्षा नौकरी दिलाने का कार्य भी सिद्ध नहीं कर पाती। अधिकांश पाठ्यक्रम अव्यावसायिक होने के कारण एक ऐसे शीशमहल में कैद कर जाते हैं कि विद्यार्थी को समाज में व्यावसायिक व्यक्तित्व (आक्यूपेशनल आइडेंटिटी) तक नही मिल पाता।

भविष्य के अनिश्चय को युवक किसी भी मूल्य पर और बढ़ाना नही चाहता। उल्टे उसकी सबसे बड़ी कोशिश यही है कि वह किसी तरह, साधारण-से-साधारण ही क्यों न हो, निश्चित स्थान समाज में अपने लिए बना ले। इस प्रक्रिया में वह न कोई अड़चन चाहता है, न विलम्ब। वह परीक्षा पास करने के लिए मेज पर छुरा निकालकर बैठता है। फेल हो जाता है तो उपकुलपति का घेराव करता है, विश्वविद्यालय की इमारत को नुकसान पहुंचाता है। उसे जल्दी-से-जल्दी डिग्री चाहिए, क्योंकि डिग्री के बिना उसकी कोई पूछ नही है। पढ़कर डिग्री प्राप्त करने की जहमत वह उठाए क्यों, जब जानता है कि समाज में ज्ञान का महत्त्व नहीं है —महत्त्व सिर्फ एक घोषणा-पत्र का है। जो जरा गहराई में जाता है, वह तर्क करता है कि उसे जो शिक्षा मिलेगी, जरा भी कार्य-संगत नही होगी। टीचर्स-ट्रेनिंग करनेवाला युवक जब नौकरी पर जाता है तो अपने सीखे-पढ़े को पहले ताक पर रख आना होता है। बिजनेस-मैनेजमेंट करनेवाला युवक कारखाने में आकर मालिक और मजदूर, माल और बाजार के सम्बन्धों को नये सिरे से, नये दृष्टिकोण से दुबारा सीखना शुरू करता है। वास्तु-शिल्पी स्वर्गिक भवन-निर्माणकला सीखकर भद्दे, राजकीय दड़बेनुमा मकानों की पंक्तियां खड़ी करने पर मजबूर किया जाता है। साहित्य का विद्यार्थी पुस्तक में सीखता है स्वतन्त्र-चिन्तन और जीवन से चाटुकारिता की अमोघ-शक्ति।

ये सारी बातें इतनी स्पष्ट हैं कि हर एक की जुबान पर हैं। विद्यार्थी भी इनसे अपरिचित नही, लेकिन युवा-नेतृत्व इनपर मनन और सुधारात्मक विचार करने में असमर्थ रहा है और इसीलिए कोई भी निश्चित सुधार-कार्यक्रम वह सामने नही रख पाया है। वह तोड़ता है इस उम्मीद में कि अनावश्यक को हटाते-हटाते उसे आवश्यक का सुराग मिल जाएगा। इस विभ्रम के पीछे प्रेरणा और

अंतिम लक्ष्य कुछ पाने, कुछ संवारने, सुधारने का है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। लेकिन यह प्रयत्न नहीं, एक प्रकार का भाग्यवाद है, वैचारिक शून्यता का एक दूसरा रूप है।

इस सबके बीच कभी-कभी कुछ ऐसा हो जाता है कि उम्मीद जाग उठती है। इंदौर के एक युवा अधिवेशन को ही लें! उसमें एक छात्रा मंदाकिनी दवे ने पुरानी पीढ़ी को स्थिति के लिए मुख्यतया उत्तरदायी ठहराते हुए यह भी कहा कि उनके कंधों पर दोष रख देने भर से हम अपनी जिम्मेदारी से बरी नहीं हो जाते। हमें समाज को बदलना होगा वरना अगली पीढ़ी हमें ही दोषी ठहराएगी। सैकड़ों भारतीय युवक-युवतियों ने इसमें भाग लिया। सैर-सपाटे, मुफ्त भोजन-निवास के आकर्षण के बगैर अपने खर्च पर ये सब वहां जमा हुए थे। कैंप के दिनों में सड़क-निर्माण का कार्य और कॉनफरेंस के दौरान 'वामपंथी हिंसात्मकता और युवा-वर्ग', 'युवा और सांप्रदायिकता', 'राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में भारतीय युवक' तथा 'शिक्षा में क्रांति'-जैसे विषयों पर दिन-दिन भर और कभी-कभी देर रात गए तक चर्चाएं होती थीं। वहां तमिलनाडु से आए कुछ युवकों ने बताया कि उन्होंने किसी समय हिंदी-विरोधी आंदोलन में भाग लिया था, लेकिन विहार के सूखा-ग्रस्त क्षेत्र में मदद पहुंचाने के लिए हिंदी पढ़ी और विहार के कई परिवारों के मनचीते बन बैठे। बम्बई की गंदी बस्तियों भिवंडी व अहमदाबाद के सांप्रदायिक दंगों से ध्वस्त इलाकों और देश के अकाल-पीड़ित प्रदेशों में एक माह श्रम-दान देने की अपील पर तत्काल चौदह सौ अर्जियां उपस्थित हो गई थीं।

आज जनता की उत्तेजक खबरों की मांग और समाचारपत्रों द्वारा उस मांग-पूर्ति का तरीका कुछ ऐसा हो गया है कि जहां युवक एकजुट होकर शांतिपूर्वक अपने वर्तमान और भविष्य पर विचार करते हैं या कैंप लगाते हैं, विविध सहायता कार्यों में हाथ बंटाते हैं, उसकी न कहीं विशेष चर्चा होती है, न चित्र छपते हैं। किसीको उसका पता ही नहीं चलता। इसके विपरीत हर समाज-विरोधी घटना को पूरी तरह सनसनीखेज बनाकर छापा जाता है। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि युवा-वर्ग इस तरह का सृजनात्मक काम बहुत कर रहा है। तर्क केवल यह है कि जो चर्चा का विषय बनाया जाता है, वह आकर्षण का केन्द्र होता है। यदि सार्थक कामों को अभिव्यक्ति दी जाए तो संभवतः उसके प्रति अधिक युवा खिचेंगे और उनके लिए ऐसी सूचनाएं दिशा-निर्देश का कार्य भी कर पाएंगी। यदि विदेशी फिल्म देखकर डाके डालने की प्रेरणा मिल सकती है, तो सांप्रदायिक दंगों के रोकने के लिए जान की बाजी लगाने वालों की कहानी भी कहीं कोई ज्योति जरूर जगा सकती है।

सारी स्थिति पर विचार और बार-बार पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। आखिर क्या कारण है कि मद्रास, कालीकट, बंगलोर, लखनऊ, हैदराबाद,

सिकंदराबाद, सागली, कानपुर, अहमदाबाद, आगरा, पुणे, दिल्ली, पटना, राची, डिब्रूगढ़, पंतनगर—तमाम शहरों के युवकों को विद्रोह की सुलगती आग ही एक सूत्र में बांधती है—किसी तरह का कोई रचनात्मक कार्य नहीं ? आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार अभी तक हम किशोरों में हलचल मचाने वाली ईडिपस और इलेक्ट्रा ग्रंथियों से ही परिचित थे। लेकिन अब 'असंतोष' अपने-आपमें एक ग्रंथि बनकर युवा-मन को बीमार बना रहा है। इस रोग के प्रारंभिक लक्षणों को अभिभावक अकसर पहचान नहीं पाते। परिणामतः रोग व्यापकता और तीव्रता—दोनों आयामों में फैलता चला जाता है। उत्तेजना की इस ग्रंथि को निराधार अफवाहों, भड़कीले भाषणों और अवयस्क राजनीति से और बल मिल जाता है। यही कारण है कि आज अध्यापक का दायित्व बहुमुखी हो गया है। विद्यार्थी अपने माता-पिता से उतना प्रभावित नहीं होता, जितना विद्यालय के वातावरण से। लेकिन अध्यापक-वर्ग अपने ही चक्करों में फंसा हुआ है। उसे विद्यार्थी का आदर्श पूरा करने की न फुर्सत है न इच्छा। अधिकांश अध्यापकों के लिए हर विद्यार्थी-उपद्रव छुट्टी मनाने का अवसर भर बनकर रह जाता है।

इन मौकों का फायदा उठाते हैं राजनीतिक दल। यों भी, असुरक्षित भविष्य से परिचित युवक अपने अस्तित्व को मान्यता दिलाने की स्वाभाविक इच्छा में राजनीति का दामन पकड़ता है। लेकिन इस क्षेत्र में उसका प्रवेश भी सही अर्थों में उसका राजनीतिकरण नहीं है। वह न वाद समझता है न वाद के दावे। वह हल्के दामों बिक जाता है और अंततः किसी-न-किसी पार्टी-नेता के स्वार्थ की बलि चढ़ जाता है।

पंडित नेहरू ने एक बार युवा-आक्रोश के संदर्भ में तीन मुख्य कारणों को रेखांकित किया था : (१) दलगत वैभिन्य और राजनीतिक हस्तक्षेप जो शैक्षिक जीवन को विकृत कर देता है, (२) विभिन्न स्तरों पर अध्यापकों के प्रति सम्मान का अभाव, और (३) वार्षिक परीक्षा का अतिरिक्त महत्त्व।

साथ ही हमारी एक और बड़ी समस्या यह रही है कि शिक्षा के क्षेत्र में हमारे सारे प्रयोग और आदर्श अपनी मिट्टी में न उपजकर आयातित रहे हैं। किसी-न-किसी सांचे में अपने विश्वविद्यालयों को ढालने का प्रयत्न हमें अपनी वास्तविकता से दूर करता गया है। यों भी जिन 'आदर्श शिक्षा-प्रणालियों' को हमने प्रतिच्छवित करने का प्रयत्न किया, वे सभी विकसित देशों की थीं। उनकी और हमारी परिस्थितियों, परिवेश में कोई समानता नहीं है।

जाहिर है कि समस्या हर कदम पर उलझी हुई है फिर भी आश्चर्य होता है कि स्वयं युवा-वर्ग अपने असंतोष के निकास और उन्मूलन के सृजनात्मक मार्ग खोजने को व्याकुल दिखाई नहीं देता। वह असंतुष्ट है, लेकिन उस असंतोष के कारण को दूर करने का उपाय न जानता है, न जानने का पूरा प्रयत्न करता है।

चारों तरफ की दलदल को बढ़ाने में मदद करता है, घटाने में नहीं। उसने एक अजीब पलायन और हताशा की भावना का वरण कर लिया है। यह सही है कि छाया हुआ अंधकार बहुत घना है और अकसर युवक स्वयं को अकेला और बे सहारा महसूस करता है। 'मैं-अकेला-क्या-कर-लूंगा' की भावना से 'जाने-दो, सब चलता है' की मन:स्थिति सिर्फ एक कदम के फासले पर होती है। यह पलायन बाद अपेक्षाकृत आसान है। ऐसे में जब व्यक्ति अवसरवादी होकर अपने स्वार्थ के लिए सारी शक्तियों को मोड़ देता है तब कहीं अटकाव आने पर उसका रोष पूरी तरह से एकांतिक और पाशविक हो जाता है। वह विद्रोह नहीं है, परिस्थितियों से अकेले जूझने का प्रयत्न कविता, कहानी, चित्र, संगीत और मूर्ति जैसी कलाओं में भी उभरता है, लेकिन वह रोष अकेले का होने के कारण शुद्ध सृजनात्मक होते हुए भी आत्मा में, अपने आशय में, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रचनात्मक नहीं हो पाता। इसलिए युवा-विद्रोह को रचनात्मक होने के लिए सामूहिक होना होगा।

भारत जैसे देश में जहां काम के असंख्य क्षेत्र खुले हुए हैं, युवा-वर्ग को दिशा-हीनता का अनुभव क्यों हो—समझ में नहीं आता। शायद इसीलिए कि काम ज्यादा भारी, इतना ज्यादा विशाल और उलझा हुआ है कि वह शुरू करने से पहले ही हार मान लेता है या कभी-कभी विदेशी युवक की तर्ज पर अपना विद्रोह प्रकट कर अपने खून के उबाल को शांत कर लेता है। सारे ऊहापोह के बाद तथ्य यह निकलता है कि उसके रोग और विद्रोह को रचनात्मक दिशा देनेवाला कोई चाहिए। वह 'कोई' सरकार हो, युवा-नेता, माता-पिता, प्राध्यापक या फिर सब मिलकर। जरूरत यह है कि युवा-वर्ग में भविष्य के प्रति आस्था और उससे भी ज्यादा भविष्य-निर्माण में अपनी शक्ति के प्रति आस्था उत्पन्न हो। यह तभी होगा जब तत्कालीन समस्याओं के प्रति वह संलग्नता महसूस करेगा तथा आलोचना के साथ-साथ रचना भी करना सीखेगा। अनपढ़ों को शिक्षा, कुओं की खुदाई, सड़कों और पुलों का निर्माण, बीमार और असहायों की सहायता—सब कार्यों में युवकों की मदद अपेक्षित है। रूढ़ियों से छलनी हुए देश का भला युवकों को ही करना होगा। दहेज-समस्या का दायित्व सिर्फ युवाओं पर है। भ्रष्टाचार का बोलबाला सिर्फ उनकी कायरता के कारण है। जब सरसों के तेल में मिलावट के कारण बस्ती-की-बस्ती अपंग हो गई थी तब युवा-विद्रोह देखने में क्यों नहीं आया? जब तक पर-समस्या से स्व-समस्या का गठबंधन युवा-वर्ग नहीं कर पाएगा और जब तक उस समस्या का इलाज उधार मांगकर नहीं, बल्कि खुद आविष्कृत कर, नहीं करेगा, तब तक युवा-विद्रोह की सार्थकता पर अकर्मण्यता का भारी पत्थर रखा रहेगा।

पश्चिम के औघड़ ऋषिकुमार : हिप्पी

आज की पत्र-पत्रिकाओं में और हमारी, विशेष रूप से विद्यार्थियों की, बातचीत में कुछ शब्द बार-बार आ जाया करते हैं—'हिप्पी', 'फ्लावर पावर' ('यिप्पी', 'मरजुआना', एल० एस० डी०')और हम पाते हैं कि भारत के हर बड़े नगर में दिन में दो-तीन बार हमारा सामना एक विचित्र वेशभूषा वाले व्यक्ति से हो जाता है। तनिक उलट-फेर के साथ मुख्यतः उसका हुलिया यह है—बेनहाया गोरा रंग, बढ़े हुए रूखे बाल, पैबन्द-लगे मैले-कुचैले कपड़े, गन्दे पैर, नंगे या फटी सैण्डिलों में, अजीबो-गरीब मनके की मालाओं की सज्जा और कभी-कभी गले में झूलता गिटार। इन्हें दिल्ली का परांवठे वाली गली से 'अशोका होटल' के भव्य बैंक्वेट हॉल तक कहीं भी बेझिझक, बेफिक्र, घूरती आंखों की उत्सुकता से अनछुआ, विचरते पाया जा सकता है। मन में किसी पल वितृष्णा जगती है इस अघोरी के प्रति तो किसी पल जिज्ञासा कि कौन है यह वैरागी ? क्या ये सब गौरांग तपस्वी-तपस्विनियां भारत में ही अपना मसीहा पाएंगे ? ये कभी महर्षि महेश योगी के यहां, तो कभी भगवान रजनीश के आश्रम में नृत्य-गीत की गुंजार में डूबते हैं और कभी तंत्र का जाल बुन सिद्धियां लूटने का प्रयत्न करते हैं। अमेरिका के आंकड़ों के अनुसार, ये हिप्पी हैं ही कुल तीन लाख। तो क्या, भारत के हर नगर में बिखरे ये दीवाने उस गणना से कहीं अलग हैं ?

वाशिंगटन के एक हिप्पी-क्लब में दाढ़ी बढ़ाए, कानों में मुरकी पहने एक हिप्पी बियर की चुस्कियां लेता है और घण्टों बुदबुदाता रहता है, "परस्यूट आफ हैपिनेस···(आनन्द की खोज)।" अकसर 'हैपिनेस' शब्द 'हिप्पीनेस' में बदल जाता है और जब उससे सवाल किया जाता है, तो वह चौंककर कहता है कि दोनों में क्या कोई अन्तर है ? ···यानी, वह और उसके साथी आनन्द की खोज कर रहे हैं। यों, यह खोज किसने नहीं की ? ईसा, बुद्ध, कन्फ्यूशस, प्लेटो, अरस्तु

—क्या वे कुछ और खोज रहे थे ? रूसो का यह शागिर्द अगर आज अपने समाज का विरोध करता है, प्रकृति की ओर लौटता है और मानव-आत्मा को स्वतंत्र तथा अनैतिक घोषित करता है तो इसे पाखण्डी क्यों मान लिया जाता है ? शरीर के सुख के परमानन्द तक पहुंचने का प्रयत्न भी कोई नई बात नहीं। कर्ज लेकर घी खाने वाले जड़वादी चार्वाक् पूर्व में बहुत पहले जन्म ले चुके हैं और पश्चिम भी एपिक्यूरस के ऐन्द्रिक सुख पर आधारित 'हीडोनिज्म' से ईसा से लगभग तीन सौ वर्ष पहले ही परिचित हो चुका था।

हिप्पी-वर्ग समाज की नैतिक रूढ़ियों को तोड़ना चाहता है। वे प्रयत्न कर रहे हैं कि इंसान फिर से लौटकर एक स्वच्छ और पाखण्ड-रहित नैतिकता पर जा लगे। उनका कहना है कि दोगलेपन और गन्दगी का मूल है—पैसा। इसलिए हमें, पहले, जीवन में 'पैसे का अवमूल्यन' करना होगा। आधुनिक सभ्यता के ठेकेदार अमेरिकी पैसे और हैसियत की तराजू से हर भाव और सम्बन्ध को तौलने लगे हैं। (गवाह: आर्थर मिलर, जेम्स बॉल्डविन, सॉल बैलो, जॉन अप्डाइक) स्वाभाविक ही था कि इस भावना के विरोधी भी उसी जमीन पर जन्म लेते। यों यह दृष्टिकोण धर्म का मूलभूत सिद्धान्त सदा रहा है और इस तरह हिप्पी भी शायद नये मूल्यों की स्थापना कर रहे हैं।

वे अपने सिद्धान्तों को धर्म का नाम नहीं देते क्योंकि इस शब्द के साथ कुछ परम्पराएं और पूर्वाग्रह जुड़े हुए हैं। भारत की आध्यात्मिकता ने उन्हें क्यों मोहा और ईसाई मत की ओर वे उतना क्यों नहीं मुड़े—यह भी विचारणीय है। भारतीय और पाश्चात्य धर्म में मोटे तौर पर यह अन्तर देखा गया है कि ईसा का बताया मार्ग अधिक व्यावहारिक है। इसीलिए आधुनिक भारतीय भी उसकी ओर झुका था। किन्तु हिप्पियों को सम्भवतः उसकी यह व्यावहारिकता ही अग्राह्य रही। इसके अलावा अपने धर्म में कोई नवीनता इन युवकों को अब दिखाई नहीं देती थी। जिस धर्म को उनके दादा-परदादा निबाहते चले आ रहे थे, वह नई पीढ़ी के लिए अपना सारा नशा खो बैठा। इसलिए वास्तविक आनन्द और नयेपन की खोज में ये भारतीय दर्शन और धर्म की ओर मुड़े।

हिप्पियों का प्रतीक-चिह्न है—फूल। फूल जिस तरह बिना काम किए, बिना सामाजिक बन्धनों में बंधे, प्रकृति की खुली देन की तरह हंसता और खिलता है, उसी तरह हिप्पी मनुष्य को भी स्वतंत्र और निश्चिन्त देखना चाहते हैं। वे बच्चों को फूल बांटते चलते हैं। अकसर सैकड़ों-हजारों की संख्या में वे इकट्ठे होते हैं—तरह-तरह के फूलों से सजे, गिटार की ध्वनि पर 'प्रेम' के गीत गाते हैं। न्यूयार्क के सेण्ट्रल पार्क में १०,००० हिप्पियों ने एक पिकनिक (बी-इन) मनाई। इन्द्रधनुषी रंगों की पोशाकें, लम्बे बाल, ढीले-बेतुके कपड़े, अजीबोगरीब बिल्ले (पतलून त्यागो, यथार्थ बैसाखी है, मेरी पॉपिन भगेड़ी हैं,

प्यार भोगो : युद्ध नहीं), पुलिस था पहुंची थी और उसे घेरकर हिप्पी समूह गा रहा था, "प्यार···प्यार···प्यार···।" मेला लगा हुआ था, पतंगें उड़ रही थीं, जगह-जगह झण्डे फहरा रहे थे, विषय था—'देना और बांटना'। उन्होंने बाद में बताया कि इन मेलों की प्रेरणा 'मानव-मात्र के लिए प्रेम की भावना' है। 'टाइम' पत्रिका के अनुसार, "हिप्पी भले लोग हैं। 'पुष्प-शक्ति' कदापि विध्वंस के लिए नहीं है।" इन सिद्धान्तों को मानने वाले धूर्त नहीं कहलाएंगे। वे एक अधिक सुन्दर और स्वस्थ दुनिया चाह रहे हैं। उनके तरीके—उस दुनिया को पाने के, भले ही आपत्तिजनक हो सकते हैं।

- ☐ इनकी सबसे पहली शर्त है—सामाजिक नियमों का पूर्ण बहिष्कार। हर प्रकार की सामाजिक संस्था को ये तोड़ना चाहते हैं। "यदि ये संस्थाएं दस हजार साल से चली आ रही हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि ये अमर हैं।"
- ☐ प्रेम और सेक्स की सम्पूर्ण स्वाधीनता। यद्यपि इनमें विवाह भी होते हैं लेकिन जोर सामूहिक-संलग्नता पर है।
- ☐ पैसा जिन्दा रहने के लिए जरूरी है इसलिए वह जहां से भी हो, जैसे भी मिले—दान, भीख, सहायता—इन्हें स्वीकार है।
- ☐ यह धारणा कि कोई भी काम पैसे के लिए किया जाए, न कि काम की आन्तरिक सन्तुष्टि के लिए—इनसे विद्रोह कराती है।
- ☐ स्थायी नौकरी इनकी योजना में कहीं स्थान नहीं रखती।
- ☐ कपड़े और लिबास पद व सामाजिकता का प्रतीक हैं इसलिए उनकी ओर से ये बिल्कुल उदासीन हैं। हालांकि एक खास किस्म की पोशाक इनका अपना चिह्न बन गई है।
- ☐ ये बौद्धिकता से भी दूर भागते हैं क्योंकि बौद्धिकता नैसर्गिकता से दूर भागती है।
- ☐ हिप्पी-गुरुओं के अनुसार, सामान्य स्तर से ऊपर उठने के लिए नशा जरूरी है। उनका धर्म-गुरु और एल० एस० डी० का जन्मदाता डा० टिमोथी लियरी एल० एस० डी० को 'पवित्र अध्याय' की संज्ञा देता है। साधारण नशे से लेकर गांजा, चरस, मरजुआना, एल० एस० डी० (हिप्पी भाषा में ग्रास, ट्रिप) और मिथिड्रीन (स्पीड) सबका सेवन क्षम्य ही नहीं, आवश्यक है। लगभग चालीस रुपये की खुराक की यात्रा (ट्रिप) हर हिप्पी के लिए सम्मान का प्रतीक बन गई है।

पूर्वज और प्रादुर्भाव

हिप्पी-आन्दोलन ने अकस्मात् एक रात में जन्म ले लिया हो—ऐसी बात

नहीं। विश्व-प्रसिद्ध इतिहास-लेखक आर्नल्ड टॉयनबी के अनुसार हिप्पी प्रारम्भिक ईसाइयों की याद ताजा करते हैं जो रोम-साम्राज्य के पतन का कारण बने। उन्हींकी तरह इन्होंने भी आज के समृद्ध और अधोगामी अमेरिकी समाज से अपने को तोड़ लिया है और यों उसकी त्रुटियों को प्रकाश में ले आए हैं। आर्थर केस्लर की दृष्टि में मनुष्य मानव-विकास की ऐसी भयानक गलती का शिकार है कि उसका इलाज शायद 'ड्रग्ज' के अलावा कहीं नहीं। उसका दिमाग, ज्ञान और बुद्धि, विकास और समझदारी के उस बिन्दु पर पहुंच चुके हैं जहां पलायन का हर रास्ता बन्द है। वह हर स्थिति, हर काम के लिए स्वयं उत्तरदायी है। हिप्पी अपनी इस कैद को पहचानकर 'यात्राओं' (ट्रिप्स) की शरण में जा चुका है।

इन बन्धनों से मुक्ति और दृष्टि की प्रखरता पाने के लिए कलाकार हमेशा बाह्य उपकरणों का प्रयोग करता है। नास्तिक के लिए ये और भी आवश्यक हो जाते हैं क्योंकि भक्ति का नशा उसे प्राप्त नहीं। हिप्पी के पूर्वज वास्तव में अमेरिकी न होकर यूरोपीय रहे हैं। अमेरिका में न तो कॉलरिज था, न पो, न बॉदलेयर, न रिम्बो, न वर्लेन, न ऑस्कर वाइल्ड—वहां तो बायरन और शैली तक न थे। अमेरिका की समसामयिक बीमारियां वही हैं जो उत्तर-मध्यकालीन इतालवी और फ्लेमिश नगरों की थी। वहां मध्यवर्गीय युवक के सामने सम्भावनाएं सिकुड़कर खत्म-सी हो गई थीं। हिप्पी भी विस्तृत विश्वविद्यालीय शिक्षा के उच्छिष्ट हैं। वे आज की प्रतियोगिता-पद्धति में सृजनात्मक अथवा बौद्धिक रूप से फिट न बैठ पाने वाले बेमेल टुकड़े हैं। अपनी हार को एक बार स्वीकार कर लेने से मनुष्य चिन्ताओं से मुक्त होकर गहरे सन्तोष की स्थिति में पहुंच जाता है। पहले का युवक समाज में स्थान पाने के लिए जूझता था और अपने को समाज के योग्य बनाने की कोशिश करता था। किन्तु यह हिप्पी युवक-समाज में स्थान न बना पाने पर समाज को त्याग डालता है और उसे तोड़ डालना चाहता है।

क्यों और कैसे ?

अधिकांश हिप्पी समझते हैं कि वे बुद्ध की तरह अपने भरे-पूरे समृद्धिशाली परिवारों को त्यागकर निकल पड़े हैं। यह बात दूसरी है कि बुद्ध के विपरीत इनमें से अनेक, अपने घरों से आर्थिक सहायता पाने में झिझकते नहीं। एक विख्यात समाजशास्त्री के अनुसार, हिप्पी-आन्दोलन अमेरिकियों की अपेक्षाकृत अधिक लम्बी और चिन्तारहित किशोरावस्था का परिणाम है। जिन देशों में चौदह वर्षीय किशोर को रोटी कमाने में लग जाना पड़ता है, उसे मानसिक उखाड़-पुखाड़ के विलास की फुरसत ही नहीं रहती। वह कैसे अपने और परिवार व समाज के सम्बन्धों की शव-परीक्षा में उलझा रह सकता है ? यह बात इन हिप्पी

वक्तव्यों में स्पष्ट हो जाती है।

एक सरकारी अफसर का बेटा—क्लिष्ट (आयु १५ वर्ष) : "मेरा बाप दुनिया के उद्धार में लगा है। मुझे तो दुनिया उद्धार के लायक जान नहीं पड़ती। और उसे जिन्दगी में मिल क्या रहा है? मैं जानता हूं, उसे मेरी कोई परवाह नहीं। मैं तो···कुछ भिन्न बनना चाहता हूं।"

१४ वर्षीया कैथरीन : "मेरे घर वाले रात को देर से लौटने पर तूफान खड़ा कर देते हैं। इसके पीछे बात सिर्फ यही है—पड़ोसी क्या कहेंगे? दोस्त क्या कहेंगे? इन लोगों को दिखावे से ही वास्ता है। ये तो हमेशा अपने धन्धों में पड़े रहते हैं—इनकी बातें अक्ल में नहीं आतीं।"

१६ वर्षीय टॉमी : "हां, मैंने एल० एस० डी० की 'यात्रा' की है। उस यात्रा में मैंने खुद को देखा है। जो देखा, वह शायद पसन्द तो नहीं आया—लेकिन वाकई—देखा जरूर—खुद को पहचाना जरूर।···मन था इसलिए यह यात्रा की ···हो सकता है फिर भी करूं···क्या? ड्रग मिली कहां से?···पुलिस के जासूस हो क्या?"

१४ वर्षीया क्रैश-पैड (रैन बसेरा) में रहने वाली जैनेट : "हमें यहां बड़ी परेशानियां हैं। अगर हमें प्यार और स्वच्छन्दता मिल जाए तो हम जरूर घर लौटना चाहेंगे।"

इस तरह के उखड़े हुए बच्चे घर छोड़कर भाग जाते हैं। अमेरिका में घर से भाग जाने वालों में जो १८ प्रतिशत वृद्धि हुई है, वह अधिकांशतः ऐसे ही किशोर-किशोरियों की है। वे अपनी पहचान खो बैठे हैं और अपनी असलियत ढूंढ रहे हैं। उनके पलायन में सारा दोष क्या उन्हीं का है? उनके नासमझ माता-पिता अपने बच्चों की यातनाओं और छटपटाहट को न समझकर ही अकसर उन्हें भागने के लिए विवश कर देते हैं। बच्चे शायद ही कभी अपने माता-पिता की असन्तुष्टि से अपरिचित रहते हों। और आज का बच्चा तो उसे पूरी गहराई में पहचानता है। उसके माता-पिता ने जिस खोखली जिन्दगी को दब्बू ढंग से, मन में अस्वीकारते हुए भी ऊपर से ओढ़ रखा था, उस जिन्दगी को अपनी बारी आने पर, बच्चे डंके की चोट त्याग देते हैं।

ये सारे 'भटके हुए लोग' एक-दूसरे का सहारा ढूंढते हैं। और इस तरह एक दल की स्थापना हो जाती है। धीरे-धीरे इसमें सैद्धान्तिक नेताओं ने जन्म लिया और इन्होंने अमेरिका में अपना 'इजराइल' ढूंढा—हिप्पीलैण्ड 'मार्निंग स्टार' (सुबह का सितारा)। १९६७ में इसकी स्थापना करते हुए हिप्पी-नेता लो गॉटलीब ने कहा, "हम जिन्दगी की सुरक्षा के लिए मार्गदर्शक की खोज कर रहे हैं। हिप्पी, तकनीकी बेरोजगारों की पहली लहर है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज की परम्परा को जारी रखने में हमारी पहली परेशानी जगह मिलने की थी और

नहीं। विश्व-प्रसिद्ध इतिहास-लेखक आर्नल्ड टॉयनवी के अनुसार हिप्पी प्रारम्भिक ईसाइयों की याद ताजा करते हैं जो रोम-साम्राज्य के पतन का कारण बने। उन्हींकी तरह इन्होंने भी आज के समृद्ध और अधोगामी अमेरिकी समाज से अपने को तोड़ लिया है और यों उसकी त्रुटियों को प्रकाश में ले आए हैं। आर्थर केस्लर की दृष्टि में मनुष्य मानव-विकास की ऐसी भयानक गलती का शिकार है कि उसका इलाज शायद 'ड्रग्ज' के अलावा कहीं नहीं। उसका दिमाग, ज्ञान और बुद्धि, विकास और समझदारी के उस विन्दु पर पहुंच चुके हैं जहां पलायन का हर रास्ता वन्द है। वह हर स्थिति, हर काम के लिए स्वयं उत्तरदायी है। हिप्पी अपनी इस कैद को पहचानकर 'यात्राओं' (ट्रिप्स) की शरण में जा चुका है।

इन वन्धनों से मुक्ति और दृष्टि की प्रखरता पाने के लिए कलाकार हमेशा वाह्य उपकरणों का प्रयोग करता है। नास्तिक के लिए ये और भी आवश्यक हो जाते हैं क्योंकि भक्ति का नशा उसे प्राप्त नहीं। हिप्पी के पूर्वज वास्तव में अमेरिकी न होकर यूरोपीय रहे हैं। अमेरिका में न तो कॉलरिज था, न पो, न वॉदलेयर, न रिम्वो, न वर्लेन, न ऑस्कर वाइल्ड—वहां तो वायरन और शैली तक न थे। अमेरिका की समसामयिक वीमारियां वही हैं जो उत्तर-मध्यकालीन इतालवी और फ्लेमिश नगरों की थी। वहां मध्यवर्गीय युवक के सामने सम्भावनाएं सिकुड़कर खत्म-सी हो गई थीं। हिप्पी भी विस्तृत विश्वविद्यालीय शिक्षा के उच्छिष्ट हैं। वे आज की प्रतियोगिता-पद्धति में सृजनात्मक अथवा वौद्धिक रूप से फिट न वैठ पाने वाले वेमेल टुकड़े हैं। अपनी हार को एक वार स्वीकार कर लेने से मनुष्य चिन्ताओं से मुक्त होकर गहरे सन्तोष की स्थिति में पहुंच जाता है। पहले का युवक समाज में स्थान पाने के लिए जूझता था और अपने को समाज के योग्य वनाने की कोशिश करता था। किन्तु यह हिप्पी युवक-समाज में स्थान न वना पाने पर समाज को त्याग डालता है और उसे तोड़ डालना चाहता है।

क्यों और कैसे ?

अधिकांश हिप्पी समझते हैं कि वे वुद्ध की तरह अपने भरे-पूरे समृद्धिशाली परिवारों को त्यागकर निकल पड़े हैं। यह वात दूसरी है कि वुद्ध के विपरीत इनमें से अनेक, अपने घरों से आर्थिक सहायता पाने में झिझकते नहीं। एक विख्यात समाजशास्त्री के अनुसार, हिप्पी-आन्दोलन अमेरिकियों की अपेक्षाकृत अधिक लम्वी और चिन्तारहित किशोरावस्था का परिणाम है। जिन देशों में चौदह वर्षीय किशोर को रोटी कमाने में लग जाना पड़ता है, उसे मानसिक उखाड़-पुखाड़ के विलास की फुरसत ही नहीं रहती। वह कैसे अपने और परिवार व समाज के सम्वन्धों की शव-परीक्षा में उलझा रह सकता है? यह वात इन हिप्पी

वक्तव्यों में स्पष्ट हो जाती है।

एक सरकारी अफसर का बेटा—क्लिण्ट (आयु १५ वर्ष) : "मेरा बाप दुनिया के उद्धार में लगा है। मुझे तो दुनिया उद्धार के लायक जान नहीं पड़ती। और उसे जिन्दगी से मिल क्या रहा है? मैं जानता हूं, उसे मेरी कोई परवाह नहीं। मैं तो···कुछ भिन्न बनना चाहता हू।"

१४ वर्षीया कैथरीन : "मेरे घर वाले रात को देर से लौटने पर तूफान मचा कर देते है। इसके पीछे बात सिर्फ यही है—पड़ोसी क्या कहेंगे? दोस्त क्या कहेंगे? इन लोगो को दिखावे से ही वास्ता है। ये तो हमेशा अपने धन्धों में पड़े रहते है—इनकी बातें अक्ल में नही आती।"

१६ वर्षीय टॉमी : "हा, मैंने एल० एस० डी० की 'यात्रा' की है। उस यात्रा में मैंने खुद को देखा है। जो देखा, वह शायद पसन्द तो नहीं आया—लेकिन वाकई—देखा जरूर—खुद को पहचाना जरूर।···मन था इसलिए यह यात्रा की ···हो सकता है फिर भी करूं···क्या? ड्रग मिली कहां से?···पुलिस के जासूस हो क्या?"

१४ वर्षीया मैदा-पैड (रैन बसेरा) में रहने वाली जैनेट : "हमें यहा बड़ी परेशानियां है। अगर हमें प्यार और स्वच्छन्दता मिल जाए तो हम जरूर घर लौटना चाहेंगे।"

इस तरह के उखड़े हुए बच्चे घर छोड़कर भाग जाते है। अमेरिका में घर से भाग जाने वालो में जो १८ प्रतिशत वृद्धि हुई है, वह अधिकाशत ऐसे ही किशोर-किशोरियों की है। वे अपनी पहचान खो बैठे है और अपनी असलियत ढूढ रहे हैं। उनके पलायन में सारा दोष क्या उन्हीका है? उनके नासमझ माता-पिता अपने बच्चो की यातनाओं और छटपटाहट को न समझकर ही अक्सर उन्हें भागने के लिए विवश कर देते हैं। बच्चे शायद ही कभी अपने माता-पिता की असन्तुष्टि से अपरिचित रहते हो। और आज का बच्चा तो उसे पूरी गहराई में पहचानता है। उसके माता-पिता ने जिस खोखली जिन्दगी को दब्बू ढंग से, मन से अस्वीकारते हुए भी ऊपर से ओढ रखा था, उस जिन्दगी को अपनी बारी आने पर, बच्चे डंके की चोट त्याग देते हैं।

ये सारे 'भटके हुए लोग' एक-दूसरे का सहारा ढूढते हैं। और इस तरह एक दल की स्थापना हो जाती है। धीरे-धीरे इसमें सैद्धान्तिक नेताओं ने जन्म लिया और इन्होंने अमेरिका में अपना 'इंजराइल' ढूढा—हिप्पीलैण्ड 'मानिंग स्टार' (सुबह का सितारा)। १९६७ में इसकी स्थापना करते हुए हिप्पी-नेता लो गॉटलीब ने कहा, "हम जिन्दगी की सुरक्षा के लिए मार्गदर्शक की खोज कर रहे है। हिप्पी, तकनीकी बेरोजगारो की पहली लहर है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज की परम्परा को जारी रखने में हमारी पहली परेशानी जगह मिलने की थी और

अव दूसरी यह है कि इस नगरी के प्रति कौन-कौन आकर्षित होता है। हम जीवन-पद्धति की नई परिभाषा बनाने में लगे हैं।"

हिप्पी-कालोनी में रहनेवाली एक युवती 'लिजा' कहती है: "जैसे ही मैं यहां आई, सड़कों पर मुझे अपनी हर मुस्कान का उत्तर मुस्कान से मिला। वहां, घर पर, ऐसा नहीं था। इस तरह मुझे रहने की जगह मिल गई—एक सामूहिक बसेरा, जहां हम हर चीज बांटकर भोगते हैं—और मैं यहां ही टिक गई।"

भावुकतावाद ?

हिप्पी-आन्दोलन बुद्धि से पलायन करता है। तर्क और मनोवैज्ञानिकों की भाषा में जिसे 'कोरा प्रभाव' कहा जाएगा—दोनों के प्रति अधिकाधिक असन्तोष बढ़ रहा है। आज से ५० वर्ष पहले 'डाडावाद' में इसी माध्यम से लगभग यही बात कही गई थी। हिप्पी-क्लबों के 'साइकेडेलिक' (तीव्र नशे की स्थिति में रचे गए) संगीत, प्रकाश और कला की तरह 'डाडावाद' ने भी शोर से भरे संगीत, ऊलजलूल कार्य और कला-विरोध का प्रचार किया था। 'डाडावाद' यूरोप के गिने-चुने विशिष्ट व्यक्तियों का प्रथम विश्व-महायुद्धोत्तर प्रयोग था। इसी तरह 'अतियथार्थवाद' (सुर्रियलिज्म) भी युद्धोत्तर तबाही की प्रतिक्रिया था। किन्तु मान्य मापदण्डों पर प्रहार करके भी ये आन्दोलन 'झूठ' को पूरी तरह बुहार न सके थे। हां, इनसे बन्धन और सदाचार की कुछ परम्पराएं अवश्य टूटी थीं। धीरे-धीरे, 'डाडावाद' और 'भविष्यवाद' के सिद्धान्तों ने आकार लेना शुरू किया। 'भविष्यवाद' की शक्ति और शान मुसोलिनी का फासिज्म बने और जिस तरह 'डाडावाद' कला-विरोधी था, उसी तरह 'नात्सी' राजनीति-विरोधी हुए।

रोमाण्टिक, तर्क-विरोधी आन्दोलनों में सदा यह कमी रह जाती है कि वे मूलतः भावुक होते हैं। 'भविष्यवाद' और 'डाडावाद' से कहीं पहले रूसो, नीत्शे आदि अनेक विचारकों ने बुद्धि की अपेक्षा भावना को महत्त्व दिया था। इन सबका ध्येय यही रहा—विकृतियों से छुटकारा, मनुष्य के अन्तर को आजादी, असत्य की जगह सत्य की स्थापना, प्यार का दान। लेकिन मनुष्य के अन्तर में है क्या ? प्रेम—सही है, किन्तु घृणा और क्रोध भी तो। और आधुनिक प्राणी में—आघात पहुंचाने की इच्छा भी। यदि हिप्पी-आन्दोलन से भविष्य का संकेत लिया जाए तो स्पष्ट है कि आने वाला 'कल' तर्क और व्यवस्था पर नहीं चलेगा। भावुकता का यह उमड़ाव सदा राजनीति-निरपेक्ष भी नहीं रहेगा, जब वह कर्मठ हो उठेगा—तब क्या होगा ?

और अगर…

उस 'तब' का स्वाद हमें अभी से कुछ-कुछ मिलने लगा है। शिकागो में 'डेमो-

क्रैटिक नेशनल कन्वेंशन' के अवसर पर हजारों युद्ध-विरोधी हिप्पी उमड आए। आकाश पुलिस-हैलिकोप्टरों से पट गया और नगर की जल-सप्लाई पर कड़ी निगरानी थी कि कहीं हिप्पी उसमें एल०एस० डी० घोलकर डेमोक्रेटिक 'वृद्धि-भक्तों' को उड़ा डालने की धमकी में सफल न हो जाएं। अमेरिका के इतिहास में किसी राजनीतिक सम्मेलन के अवसर पर ऐसी स्थिति आज तक खडी नहीं हुई थी।

नंगे बदन, नंगे पैर, सामाजिक मर्यादाओं को तोड़ते, स्वतंत्र प्रेम का डमरू बजाते ये शिव के गण—हिप्पी—अगर किसी दिन उस विचित्र देवता के पूरे भक्त बनकर, तीसरा नेत्र खोल, ताण्डव की चेष्टा कर बैठें तो क्या न हो जाए—यह बार-बार विचारणीय है।

महानगरीय जीवन में लोक-कलाएं

इंसान ने जिस दिन चौपाये से अलग अपनी दोपायी हस्ती को पहचाना, कला का जन्म उसी दिन से हो गया। इंसान और जानवर में सबसे बड़ा अन्तर ही यह है कि जानवर सिर्फ जिन्दा रहता है जबकि मनुष्य जीवन में जीने की कला जानता है। अगर जीवन को सही अर्थों में देखना है तो महानगरों की बड़ी-बड़ी आर्ट गैलरियों के लक-दक बरामदे छोड़कर गांवों की ओर निकलें। वहां पनपती है लोक-कला। वह कला, जो जीवन के हर बदलाव के साथ मुड़ती हुई अपने लचीलेपन की वजह से सदा जिंदा रहती है। वह फैशन की आंधी से झुक नहीं जाती, न ही वह बदलते सिद्धान्तों के झक्कड़ से टूट जाती है। यह कला जमीन से जन्म लेती है और उसीमें जड़ें जमाए पनपती है।

कला का जन्म अपने भीतर की हलचल को अभिव्यक्त करने के लिए हुआ। यह हलचल अगर अन्दर ही दबा दी जाए तो इंसान का समूचा व्यक्तित्व हिल उठे। आत्माभिव्यक्ति की यह छटपटाहट चित्र, संगीत और नृत्य के रूप में मूर्त्त होती है। एक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार, कला का पहला प्रस्फुटन समाज में अपनी उपयोगिता जाहिर करने के निमित्त हुआ था। आदिम युग में उसी स्त्री या पुरुष का आदर होता था जो शिकार कर सके या अपने कबीले की दूसरे कबीले वालों और जंगली जानवरों से रक्षा कर सके। जब सारे ताकतवर पुरुष आखेट को निकल जाते थे तब कुछ कमजोर, बीमार या अपाहिज लोग गुफाओं में पीछे छूट जाते थे। उनके साथी जब शाम को लौटकर आते, तब देखते कि गुफा की दीवारों पर शिकार के रंगीन दृश्य अंकित हैं। गुफा के द्वार पर फूल और पत्ते चित्रित होते। मिट्टी के अनगढ़ बर्तनों पर भी सुन्दर आकृतियां बनी होतीं। इसके अलावा ये लोग बच्चों के लिए खिलौने गढ़ते और लम्बी जंगली घास बीनकर उससे गुदगुदे आसन बुनते ताकि उनके थके-मांदे भाई-बन्द लोटकर उनपर आराम पाएं।

इस तरह इन प्रारम्भिक कलाकारों ने आत्माभिव्यक्ति के साथ-साथ समाज में अपना एक विशेष स्थान भी बना लिया। यही कारण है कि लोक-कलाओं के साथ उपयोगितावाद जरूरी तौर पर जुड़ गया।

मनुष्य के विकास के साथ-साथ दो तरह की सभ्यताएं उभरीं—शहरी-सभ्यता और ग्रामीण सभ्यता। नागरिक कलाओं का एक विशुद्ध व्याकरण बनता गया। इस व्याकरण की सीमा में ही वह कला पनपी, बढ़ी और धीरे-धीरे शास्त्रीय होती गई। चाहे वह नृत्य हो, संगीत, चित्र, निर्माण या साहित्य, पर ग्राम्य-कला ग्रामीण जीवन का एक अभिन्न अंग रही। हर तीज-त्योहार और सामाजिक उत्सव पर ग्रामीण कला की आवश्यकता अनुभव होती थी। वस्त्राभूषण, पूजा की सामग्री के पात्र, मण्डप—सभी चीजें तरह-तरह से सजाई जातीं। इनपर देवी-देवताओं की आकृतियां, पौराणिक कथाएं, ऐतिहासिक महत्त्व की घटनाएं और दैनिक जीवन में रची-बसी कहावतों व मुहावरों के चित्र अंकित किए जाते। वास्तविकता का ज्ञान और मूलभूत सत्य की पहचान इन कलाकारों की कला का आदिस्रोत रही। यही कारण है कि धर्म इनके लिए महत्त्वपूर्ण रहा और लोक-कलाओं के चौखटे में काम करता हुआ भी कलाकार एक सामूहिक चेतना को कला में उतारता रहा, और इसीलिए चाहे शास्त्रीय कला अपने रूप बदलती चली गई, लोक-कलाएं हमेशा जीवन-बिन्दु से अपने को सींचती रहीं और नये-नये प्रयोगों की आपाधापी में नहीं पड़ीं। इन कलाकारों ने किसी शिक्षालय में कला की शिक्षा नहीं पाई। इनके लिए कला प्रकृति की देन के समान रही, या यह उन्हें सांस्कृतिक विरासत के रूप में मिली जिसे वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी सहजता से देते-लेते चले गए।

बहुत लम्बे अर्से तक ये लोक-कलाएं गांव में ही पलती-पनपती रहीं—नागर और सुसंस्कृत कहलाने वाले कला-समीक्षक और कला-प्रेमी इनकी ओर से निरपेक्ष रहे।

उन ग्राम कलाकारों की दक्षता और शिल्प-पटुता को व्यावसायिक-वर्ग ने जरूर परखा और पहचाना। तभी तो उन कलाकारों को गांवों से लाकर बड़े नगरों में बसाया गया और कीमती बनारसी साड़ियां, लखनऊ का चिकन का काम, हैदराबाद की बिदरी कला या कश्मीर का पेपर मशी का काम, नम्दे, कालीन तथा बेशकीमती जामावार शॉल इन लोक-कलाकारों के चमत्कारी हाथों से तैयार होकर व्यापारियों की तिजोरी भरते रहे। कुछ कलाओं का तो इतना ज्यादा व्यावसायिक विकास हुआ कि वे धीरे-धीरे लोक-कला के क्षेत्र से ही निकल गई।

सच तो यह है कि विशुद्ध लोक-कलाओं में वे ही गिनी जानी चाहिए जिन्हें गांवों के कलाकार अपने आसपास से प्राप्त वस्तुओं को इस्तेमाल में लाकर उपयोग या अलंकरण के लिए निर्मित करते हैं। लोक-कला और हस्तशिल्प की वस्तुओं

में भी बहुत अन्तर नहीं है। चटाई बुनना शिल्प है, लेकिन उसीमें जब महीन सींकों का प्रयोग करके सुन्दर रंग-बिरंगी आकृतियां बुन दी जाती हैं, वह कलाकृति हो जाती है। इसके अतिरिक्त सामान्य ग्रामीण वस्तुओं को जब नागरिक अपनी बैठकों में कलापूर्ण ढंग से सजा लेते हैं तब एक साधारण मिट्टी का घड़ा भी लोक-कला का नमूना बन जाता है। असल में फैक्टरियों से निकली चीजों के मुकाबले हस्तशिल्प में कला का समावेश होता ही है, क्योंकि इनका निर्माण कारीगर के हाथों से होता है, न कि सांचे में ढले नमूनों और मशीनों से। इस तरह हर वस्तु में, चाहे वह हथकरघे पर बुना कपड़ा हो या कुम्हार के चाक पर गढ़ी सुराही—कारीगर के भीतर छिपे कलाकार का भी समावेश हो जाता है और वह वस्तु कमोबेश कलाकृति का रूप धारण कर लेती है।

वस्तुत: मशीनी सभ्यता की एकरसता से ऊबे शहरी मन को लोक-कला की इसी व्यक्तिवादिता और नयेपन ने इतना रिझाया है कि अब वह अपने अत्याधुनिक बंगले को ग्रामीण कलाकृतियों से सजाने लगा है। एक काल्पनिक दृश्य में चलें। और काल्पनिक भी इसे क्यों कहें? इसके सारे उपादान अलग-अलग घरों में बिखरे पाए जा सकते हैं :

आप किसी बंगले का रंगीन बांसों का गेट खोलते ही हैं कि रेशम की डोरी से बंधी एक पीतल की घण्टी कहीं भीतर टनटना उठती है। फिर कच्छ की कढ़ाई और शीशों के वन्दनवार से सजा दरवाजा खुलता है और राजस्थानी बन्धेज के उन्नावी पर्दे को हटाकर गृहिणी बाहर झांकती है। भीतर जाते हैं तो देखते हैं कि बाहरी पर्दे के आगे रंगीन मनकों की झालरें पड़ी हैं। इस पारदर्शी पर्दे के पीछे उनकी बैठक है जो किसी मौर्यकालीन श्रेष्ठी के प्रकोष्ठ-सी झलक रही है। गृहिणी ने बिजली का स्विच ऑन किया तो मिट्टी की जालीदार हंडिया के शेड से प्रकाश बनकर सुन्दर आकृतियों में चारों ओर बिखर गया। एक ओर कोरे बांस का दीवान है और उसपर देवी दुर्गा के छापेवाली कलमकारी चादर बिछी है। दूसरी ओर गुजराती सखेड़ा काम की लाख की पालिश से चिकनी रंगीन कुर्सियां हैं। इसके अतिरिक्त रंगीन निवाड़ और बान से बुनी पीढ़ेनुमा कुर्सियां हैं जिनके पीछे कांसे की नन्ही-नन्ही घण्टियां हिल रही हैं। कमरे के बीच राजस्थानी नम्दा बिछा है—हरा, पीला और लाल। जिस कुर्सी पर आप बैठे हैं, उसपर सूखे फूस से बुने गुदगुदे असमिया आसन पड़े हैं। बंगाल के कलाकारों के हाथों से तपाए सैरेमिक के मगों में केवड़े का शर्बत पीते हुए आप दीवारों पर दृष्टि डालते हैं। बिहार की मधुबनी चित्रकला का नमूना एक ओर तथा दूसरी ओर दीवार पर आन्ध्रप्रदेश का सूर्याकार ताम्रपट्ट। दीवान की पृष्ठभूमि में एक बड़ा-सा फड़ लगा है जिसमें रामायण के कथा-प्रसंग अंकित है। किताबों की अलमारियों पर कौड़ियों से सजी लाक्खीर-झाका है और हाथी-दांत जड़े सागवान

के डिब्बे में सिगरेट रखी हैं। अब रंगीन सींकियों से बुनी टोकरी में फल आते हैं। इन्हें गृहिणी चन्दन की मूठवाले चाकू से तराश रही है। ढोकरा धातु पात्र में इलायची पेश की जाती है और तब आता है खस का पानदान, जिसके खुलते ही खुशबू फैल जाती है।

हम भारतीय है और यह स्वाभाविक है कि भारतीय वातावरण में हमें राहत मिलती है। इंसान अपनी मिट्टी, अपनी जलवायु में ही पूर्णतः सुखी रह पाता है। अंग्रेजों की दासता के साथ-साथ हमने उनकी साज-सज्जा अपना ली थी। अपना रहन-सहन और वेश-भूषा उनके सांचे में ढाल ली थी। आजादी के साथ-साथ जहां हमने अपनी गरिमा को पाया है—वहां अपने तौर-तरीकों की सुविधाजनक सहजता को भी दुबारा पहचाना है। ऊंची-ऊंची मेज-कुर्सियों पर टांगें लटकाकर बैठना आरामदेह नहीं हो सकता। भारी-भरकम सोफासेट, जो भारत के दममाही गर्दीले मौसम में मनों धूल-मिट्टी अपने भीतर जमा कर लेते हैं, भला, हलकी-फुलकी बांस की बनी तिपाहियों और दीवान का मुकाबला क्या करेंगे? इन्हें सरकाओ, जमीन से चटाई लपेटो और कमरे को रगड़कर धो डालो। ठंडक और सफाई दोनों सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। वनस्पति रंगों के छपे पर्दे हों, काठ का फर्नीचर या बेंत के मूढ़े—चिलकती भारतीय धूप इनके रंगों का कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

लोक-संस्कृति का पुनरुत्थान महज फैशन नहीं है। यह अपनी खोज और भारतीयता की पहचान की दिशा में उठा हुआ एक महत्त्वपूर्ण कदम है। इन कलाओं की उपयोगिता और आकर्षण आज भारत ही नहीं, सारे विश्व को चमत्कृत किए हुए हैं—यह बात प्रतिवर्ष बढ़ते निर्यात के आंकड़े आसानी से सिद्ध कर सकते हैं।

दहेज : एक टूटी तराजू

दफा १४४, वेश्या-वृत्ति-विरोधी कानून, शारदा-ऐक्ट या फिर रैण्ट कंट्रोल ऐक्ट, सवका उद्देश्य है समाज के पहियों को सुचारु रूप से गतिशील रखना। जब तक ये पहिये पटरी से बंधे हैं तब तक खुशहाली है, जिंदगी में अमन-चैन है और वातावरण सद्भावपूर्ण बना रहता है। लेकिन इंसान की फितरत कुछ ऐसा मजाक है कि वह स्वभावतः अपने हित के लिए स्वयं खींची हुई सीमाओं को तोड़ता चलता है और अपनी भलाई के लिए उठाए हुए महल खुद गिरा देता है। ऐसा न होता तो क्यों अदालतों का निर्माण होता, फौलादी हथकड़ियां डाली जातीं और न्याय-संहिताएं पृथुलतर होती चली जातीं ? आदमी के अंदर शैतानी जहर कब फुफकारने लगे, कह पाना वेहद मुश्किल है, इसीलिए हर पल उसे काबू में कसे रखने के लिए कानूनों की जंजीर लंबी हुई जा रही है।

२०वीं सदी का आरंभ एक अजीब दोगले माहौल से गुजरा। संसार—पहले और दूसरे भयानक विश्व महायुद्धों के जबड़ों में फंसा हुआ भी एक ओर विज्ञान के इन्द्रधनुषी सपने देखता, पूंजीवादी खनक और नये सुविधाजनक यंत्रों की झनकार के साथ गुनगुनाता रहा और दूसरी ओर अमीरी को दुत्कारता, मार्क्स का मस्तिष्क और खुली हवा में धड़कता फ्रॉयड का दिल लिए, गांधी, टॉल्स्टाय और बर्टेंड रसल के दिखाए रास्तों पर कदम बढ़ाता रहा। सामान्य आधुनिक मानव दो पाटों में पिस गया। यही कारण है कि आज उसके बचे-खुचे मूल्य भी अपने स्थान से स्खलित हैं। वह सोचता कुछ है, करता कुछ है। वह दूसरे को धिक्कारता है, उसपर उंगली उठाता है, लेकिन स्वयं उसी काम को किसी-न-किसी कारण की आड़ लेकर कर गुजरता है।

कभी-कभी लगता है कि उदारता और दूसरे के मन को पहचानने, न दुखाने की समझदारी बड़ी महंगी पड़ती है। अपने देश में पचरंगी हवा हर पल बहती है।

धर्म-संप्रदायों की बात करें तो, वर्गों का प्रश्न उठाएं तो। संभवतः दर्शन की लंबी परंपरा ने हमें इतना तरल बना दिया है कि हम किसीकी भी भावना को ठेस पहुंचाना नहीं चाहते। नतीजा यह कि कानून गढ़ते वक्त भी उसमें सारे दृष्टिकोण समेटने के प्रयत्न में अनेक सिरे लटकते छूट जाते हैं। शक और जिरह की गुंजाइश बनी रहती है और वह इतना लचीला हो जाता है कि वादी-प्रतिवादी दोनों उसे अपने-अपने हक में मोड़कर उसका स्वरूप ही मिटा डालते हैं।

अकसर दहेज के कानून को लेकर भी यही डर मन में उठने लगता है। १९६१ में सरकार ने दहेज-विरोधी कानून लागू किया था। कानून की आवश्यकता निर्विवाद थी। सदियों पहले दहेज लेने-देने का रिवाज नवविवाहित दम्पति के जीवन को आसान बनाने का व्यावहारिक प्रयत्न था। धीरे-धीरे समाज में पुरुष की कद्रदानी और स्त्री की बेकद्री के दौर में यह एक तिजारत बनकर रह गया। जिसके घर में बेटी पैदा हुई, उसके घर में मानो कुड़की का ढोल बज गया और जिसके यहां बेटा हुआ, वहां हुंडी खुल गई या किस्मत की लॉटरी का नंबर निकल आया। गरीब मां-बाप इस बोझ के नीचे ऐसे पिसे कि बेटी आंख का कांटा हो गई। दहेज की जकड़नें इतनी मजबूत होती गईं कि लगने लगा, कोई दैवी प्रतिभा ही अवतार लेकर इस दानव को धराशायी कर पाएगी।

भारतीय स्त्रियों के भाग्य का सितारा यों तो स्वतन्त्रता-संग्राम के साथ-साथ जागने लगा था। तमाम बड़े-बड़े नेताओं ने चाहे वे धार्मिक हों या सामाजिक और चाहे राजनीतिक—इस बात पर जोर दिया कि अपने घरों में पर्दों में दबी-ढकी औरतें सूरज की रोशनी में नहीं आएंगी। जब तक भारतीय पुरुष उन्हें अपना हमराही और सही अर्थों में जीवनसाथी नहीं बनाएंगे, तब तक देश पराधीनता और दुर्भाग्य के पंजों से छुटकारा नहीं पाएगा। गांधीजी ने देश के अनपढ़ और गंवार होने की सबसे बड़ी वजह यह बताई थी कि हमारी मां और बहनें अनपढ़ और दमित हैं। उनकी ललकार पर पर्दानशीन औरतों का हुजूम झूठी लज्जा के घूंघट उलटकर तिरंगा हाथ में उठाए, लाठियां सहने, गोलियां खाने हिम्मतेमर्दां को शर्मिंदा करता सड़कों पर उमड़ आता था। उस युग से जो सिलसिला शुरू हुआ, वह आज तक निरंतर नारी को सम्मान की चोटी की तरफ ले जाने वाला सिद्ध हुआ। लेकिन फिर भी कहीं कोई कमी रह गई, हमारी रफ्तार ठोकरें खा गई और हम भावनात्मक रूप से स्त्री को पुरुष के बराबर हक देने में हिचकते रहे। यही कारण है कि दहेज का भूत आजकल हमारा गला दबोचे हुए है।

यह नहीं कि हमारा दृष्टिकोण तनिक भी बदला नहीं है। अकसर अखबारों में ऐसी खबरें पढ़ने को मिल जाती हैं कि अमुक लड़की ने दरवाजे से बारात लौटा दी, क्योंकि वर का पिता फेरों से पहले मोटर की मांग करने लगा। यह भी पढ़ने

को मिलता है कि अपने पिता की किसी ऐसी ही अपमानजनक मांग पर दूल्हे ने घर लौटने से इनकार कर दिया, परिवार और बिरादरी की मर्जी के खिलाफ दुलहन को बिना दहेज ब्याहकर घर ले आया। अनेक समाज-सुधारक समारोहों में युवा-दल दहेज न मांगने और न लेने की सामूहिक प्रतिज्ञा लेते पढ़े-सुने जाते हैं। कुछ नौजवानों ने तय किया कि जिस भी शादी में दहेज देने या लेने की बात उन्हें पता लगेगी या जिस शादी में बेहिसाब खर्च होता उन्हें दिखाई देगा, वहां वे धरना देंगे। इसी तरह आधुनिक साहित्य में भी यह सामाजिक समस्या स्वयमेव उभरती रहती है। जगदीश चंद्र माथुर का एकांकी 'रीढ़ की हड्डी' शायद ही किसी स्कूल या कॉलेज में न खेला गया हो। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर उपेन्द्रनाथ अश्क, यशपाल, कृशन चंदर आदि ने सीधे-सपाट ढंग से और अनेकानेक आधुनिक कथा-कारों ने व्यंग्य, कुंठा, हताशा, आक्रोश बहुआयामी रंगों में अनेक बार इन मसलों को उठाया है, उनका पोस्टमार्टम करके इन घावों की गंदगी को उघाड़ा है। वह जहर कुरेदा है जो व्यक्ति और समाज दोनों को भीतर तक रोगग्रस्त कर जाता है। इन सारी कोशिशों से इतना जरूर हुआ कि कम-से-कम कुछ माता-पिता को खुल्लमखुल्ला दहेज मांगते झिझक महसूस होने लगी है। इस तरह के लड़कों की चर्चा होती है जो दुलहन को एक सूटकेस के अलावा और कुछ लिए बिना ब्याह लाते हैं। यों, इस तरह के विवाहों की बात सुनकर मन में एक संदेह अवश्य उठता है कि उस सूटकेस में संभवतः एक मोटी रकम वाला चेक भी बंद होगा। वह दहेज में दी गई मोटरगाड़ी, जेवर और कपड़ों के दर्जनों जोड़ों की तरह हर एक को दिखाई नहीं देता। संदेह इसलिए और भी, क्योंकि अकसर ये 'अनुकरणीय उदा-हरण' धनी-परिवारों की देन हुआ करते हैं।

सरकार अपनी ओर से इन बुराइयों को दूर करने की कोशिश कानून बनाकर करती है। दहेज-बंदी कानून इस तरफ उठा हुआ एक महत्त्वपूर्ण कदम हो सकता था, किन्तु कानून को आम आदमी और खास तौर से गरीब का जितना मददगार साबित होना चाहिए था, हो नहीं पाया है। समाज-भीरु नागरिक अकसर इस तल-वार को म्यान से निकालता ही नहीं और कानून तोड़ने वाले को इसका वार सहना नहीं पड़ता। कानून बनाने से ही हर बात नहीं बन जाती। उसकी शक्ति को पह-चानना और उससे लाभ उठाने की कोशिश करना अत्यंत आवश्यक है। कितने बेटियों के पिताओं ने आज तक जाकर अदालत के दरवाजे खटखटाएं हैं कि कोई उनसे दहेज मांग रहा है—उसे सजा दी जाए? किसने आज तक यह शिकायत की है कि अमुक ने दहेज दिया और अमुक ने लिया—उनपर कानूनी कार्यवाही होनी चाहिए? सामाजिक कायरता के कारण हर बार कसूरवार बेदाग छूट जाता है।

दूसरी कमी किसी हद तक कानून में ही निहित है। 'दहेज' शब्द की व्याख्या

करते हुए सेक्शन २ में कहा गया है कि कोई भी जायदाद या बहुमूल्य वस्तु, जो शादी में एक पार्टी दूसरी पार्टी को इस उद्देश्य से दे या देने का वायदा करे कि शादी का तय होना उसपर निर्भर हो, 'दहेज' माना जाएगा। इसमें वे लोग नहीं सम्मिलित हैं जो शरीयत के दायरे में आते हैं। उसके नियमों में चालित हैं। आगे इसको और साफ करते हुए कहा गया है कि शादी के वक्त कोई भी पार्टी दूसरी को अगर धन, वस्त्राभूषण या कोई और वस्तु उपहारस्वरूप देती है तो उसे दहेज न माना जाए। इस व्याख्या को पकड़कर न जाने कितने दोषी दहेज की नाव आराम से खेकर पार उतर जाते हैं और कोई उनपर उंगली तक नहीं उठा पाता। इसी तरह इस कानून के सेक्शन ८ में दहेज मांगना और देना 'नितांत, निर्विवाद जुर्म' नहीं माना गया है। इसका नुकसान यह होता है कि सरकारी अधिकारी इसकी रिपोर्ट बतौर जुर्म दर्ज करने-न-करने का फैसला अपने हाथ में ले लेता है। कानून के जाल का एक और तन्तु कट जाता है, उसके छेद और बड़े हो जाते हैं।

यहां एक और कानून का ध्यान हो आता है, जिसका दहेज की रोकथाम में घनिष्ठ संबंध है। जायदाद और विरासत में अब लड़की का बराबर का हक हो गया है। इस स्थिति में दहेज बिल्कुल ही निरर्थक हो जाता है। अब कानूनन लड़की की हैसियत परिवार में बदल गई है। आज इसका महत्त्व पता नहीं चलता किन्तु निःसंदेह हमारा दृष्टिकोण कुछ और ही होगा। उदाहरणार्थ, एक पिता आज अपनी बेटी को दहेज देता है और कल वह भाइयों के बराबर खड़ी होकर बाप की मिल्कियत में से अपना हिस्सा भी बांटकर ले जाती है। उसे तो इस बदलते माहौल में दुहरा फायदा हो गया लेकिन जब वह अपनी बेटी का ब्याह रचाने चलेगी तो दहेज देते वक्त हजार बार सोचेगी। आखिर दहेज भी तो पिता की सम्पत्ति में पुत्री के हिस्से का एक रूप ही है। उस लड़की के भाई भी आपत्ति उठाएंगे और कहेंगे कि हरेक को नई जिन्दगी बसानी है, सुविधाएं जुटानी हैं—अगर तुम बेटी को दहेज देते हो तो बेटे को भी दो। दोनों में फर्क ही क्या है?

यह तो पचास, सौ साल आगे की बात है। यद्यपि सभ्यता के सफर में पचास-सौ साल कुछ नहीं हुआ करते लेकिन फिर भी मन-मस्तिष्क के पलटने में इतना समय तो तब लगे जब हम आज अपने बुद्धि के कपाट बिल्कुल ही बंद कर लें। हालत इतनी खराब दिखाई नहीं देती कि कहना पड़े :

"हमारी तहजीब अपने खंजर से आप खुदकुशी करेगी,
जो शाखे नाजुक पे बनेगा आशियाना नापाएदार होगा।"

आज के युवा मानसिक कारागार की दीवारें गिरा रहे हैं, खाइयां पाट रहे हैं। वे साथ उठते-बैठते हैं, नाचते-गाते हैं, पढ़ते-लिखते हैं और वाद-विवाद करते हैं। फिर वे प्यार में बंधते हैं—शादियां रचाते हैं। पंजाबी लड़के को इडली-दोसा

लुभाने लगता है। और कश्मीरी लड़की, चौड़े लाल पाड़ की बंगाली साड़ी पहनकर मांग सिन्दूर से भर लेती है। ऐसे में किसे होश रहेगा दहेज का ? लड़के-लड़कियां जितने पढ़े-लिखे, समझदार, आत्मनिर्भर और निर्भीक होते जाएंगे, निकम्मे रीति-रिवाजों के जहरीले दांत टूटते चले जाएंगे।

रिश्ते : नये-पुराने की रस्साकशी

अदब और कायदे की हवा में बच्चा 'निषेध' के वातावरण में पलता-पनपता जवान हो जाता है। होश संभालने के साथ-साथ वह महसूस करने लगता है कि जीवन में हजारों चीजें ऐसी हैं जो उसे 'नहीं' करनी हैं। उसे सुबह देर से नहीं उठना है, नाश्ते की मेज पर जोर-जोर से बातें नहीं करनी हैं, स्कूल में शरारत नहीं करनी है, शाम को खेल में देर तक समय बर्बाद नहीं करना है, माता-पिता के साथ घूमने जाने का हठ नहीं करना है—बड़ों के बीच में बोलना नहीं है। नहीं—नहीं—नहीं। ये 'नहीं' उसे इतना जकड़ लेता है कि वह धीरे-धीरे डर और अपराध-भावना में गिरफ्तार होता चला जाता है। उसके अन्दर स्वाधीनता की इच्छा और विरोध की लहरें उमड़ने लगती हैं। लेकिन उसे सबसे पहला पाठ पढ़ाया गया है कि बड़ों की आज्ञा का सदा पालन करो, और वह गम खाकर रह जाता है।

जब बड़ा होता है तो एक दूसरी तरह की शिकायतों का अंबार उसके सिर पर लदने लगता है। वह किसी सामाजिक नियम को संकीर्ण ठहराता है तो उसके विचारों को अवयस्क और बेहूदा करार दिया जाता है। जब वह धन-सम्पत्ति आदि के विषय में अपनी सम्मति देना चाहता है तो उसे चेताया जाता है कि ये सब महत्त्वपूर्ण बातें हैं—उसे इनका क्या अनुभव ? "विद्यार्थी को राजनीति में नहीं पड़ना चाहिए", "युवा-वर्ग को हमेशा तमाम राजनीतिक समस्याओं से दूर रहना चाहिए।" लेकिन मजाक यह कि पुरानी पीढ़ी निरंतर नई पीढ़ी को याद दिलाती रहती है कि "हमने देश के लिए जो त्याग किए—तुम कभी नहीं कर सकते। तुम स्वदेश की समस्याओं से स्वयं को जोड़ते नहीं। तुमने स्वयं को सौंदर्य व प्रेम, जैज और पॉप संगीत तथा पश्चिमी फैशन के आइवरी टावर में बबुए की तरह सजा लिया है। तुम्हारा खून ठंडा हो चुका है।" किन्तु जहां जवान खून

उवाल खाया कि पुरानी पीढ़ी के होश फाख्ता हुए। फौरन उसकी उमंग को नये फतवे दे दिए गए—गुंडागर्दी, आवारगी और उच्छृंखलता।

बात यह नहीं कि जहां जवान खून उवाल खाता है, वहां किसी ढंग का भटकाव होता ही नहीं। लेकिन क्या हर तलाश की मंजिल भटकाव की पगडंडियां से गुजरकर ही नहीं मिलती ? क्या संसार में कुछ भी प्राप्त किया गया है विना कुछ खोए हुए ? और क्या लीक पकड़कर चलते जाने पर कभी किसीने कुछ पाया है ? डार्विन के अनुसार, बन्दर से इंसान बनने का पूरा सफर 'गिरने और उठने' की एक लंबी दास्तान है। अब एक सवाल और उठ खड़ा होता है। बहस के लिए अगर हम यह मान भी लें कि आज का युवक कल के युवक से कुछ अधिक भूलें कर रहा है तो इसकी भी जिम्मेदारी किसके कंधों पर है ? क्या काफी हद तक उन बुजुर्गों पर नहीं जिन्होंने मनाही की हवा में, अंधी आज्ञाकारिता के घुटे वातावरण में मनुष्य के स्वभाव को कैद करना चाहा था ?

पुराने-नये के बीच लड़ाई कब नहीं रही ? वास्तविकता तो यह है कि संघर्ष ही उन्नति की पताका है। यह युद्ध जितना घनघोर होता है, जिजीविषा भी उतनी ही तीव्र होती जाती है। नियम बनाए ही जाते हैं तोड़ने के लिए। क्रोचे ने अपनी किताब 'सौंदर्यशास्त्र' (एस्थेटिक्स) में लिखा है कि आलोचक और रचनाकार के बीच सदा एक स्पर्द्धा-सी हुआ करती है। आलोचक सीमाएं निर्धारित करना चाहता है और रचनाकार जितना क्रांतिकारी होता है, उतनी ही तीव्रता से सीमाएं तोड़ता हुआ आगे निकल जाता है।

यहां कुछ पंक्तियां स्मरण हो आती हैं :

"फूल श्लथ बंधन हुआ, पीला पड़ा, टपका कि टूटा
तीर चढ़कर चाप पर, सीधा हुआ, खिंच कर कि छूटा···"

मानव सदियों से स्वयं को नियमों में जकड़ा हुआ महसूस करता रहा है। हर नये जन्म, हर बदलाव के लिए उसे फूल की तरह मुर्झाकर टूटने की धीमी प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है—एक-एक डग भरकर सीढ़ियां चढ़नी पड़ती हैं। क्या आश्चर्य कि वह इस सबसे उकता जाए और तीर की तरह छूट जाने की चाह कर बैठे ?

"बिना सीढ़ी के चढ़ेंगे
तीर के जैसे बढ़ेंगे
इसलिए इन सीढ़ियों के फूटने का सुख
टूटने का सुख।"

सच ही, टूटने में भी बड़ी राहत होती है। जंजीरों के टूटने का सुख पूछा जाए किसी बंदी से। रात का अंधेरा सूरज के नुकीले भालों से छिद जाता है और सारी प्रकृति प्रणाम में झुक जाती है। आंखों से जब भ्रम के रंगीन चश्में उतरकर

टूटते हैं तो आंखें चौंधिया जरूर जाती हैं लेकिन पत्तों की हरियाली और गुलाब का रेशमी सुर्ख चेहरा तभी पहचान में आता है।

बीसवीं सदी की जिंदगी चल नहीं रही—भाग रही है। मानव-बुद्धि के कपाट इतने चौड़े हो गए हैं कि उसमें सारी दुनिया बड़ी तेजी से घुसी चली आ रही है। इस सबके बीच एक सवाल बराबर नई पीढ़ी को परेशान किए रहता है—"मैं क्या हूं—मेरी वास्तविकता क्या है—मेरे अस्तित्व के क्या अर्थ हैं?" माता-पिता और गुरुजन की एकच्छत्रता और सत्ता के दिन लद चुके हैं। धर्म आज सही रास्ता दिखाने वाली ज्योति नहीं रह गया है। जो युवा सक्रिय रूप से धर्म का विरोध नहीं करते, वे भी अब उसे दैवी करिश्मा नहीं मानते और न ही धार्मिक रूढ़ियों के अनुसार जीवन व्यतीत करने की बात सोचते हैं। इस तरह युगों से चले आए मूल्य जब उसके लिए अस्थिर सिद्ध हो जाते हैं तो वह अपने नये मूल्य, नये मापदंड बनाने की ओर उन्मुख होता है। यहां उसे कुछ और परेशानियां पेश आती हैं। जो उसने पुस्तकों से सीखा है या जो उसका अंतःकरण करना चाहता है—जिंदगी की तल्ख असलियत उसे उन सबसे उल्टा करने पर मजबूर करती है। वह ईमानदारी की राह चलना चाहता है लेकिन दुनिया ईमानदारी को मूर्खता की उपाधि देती है। वह एक सुन्दर स्वस्थ जीवन, प्रसन्न और खुशगवार वातावरण के स्वप्न देखना चाहता है तो अनुभवी उसे आदर्शवादी स्वप्न-द्रष्टा कहकर उपहास करते हैं। इस दोराहे पर आकर वह या तो धूर्त, दुनियादार भेड़िया हो जाता है जो दूसरे का मांस नोचकर अपना पेट भरने को हुनर मानता है, या छोटे-बड़े अपराधों के रूप में असामाजिक 'ड्राप आउट' हो जाता है।

जापान के कुछ समाजशास्त्रियों ने संसार के १३ देशों के युवाओं का एक सर्वेक्षण तैयार किया। इसमें भारत के एक हजार ग्रामीण व एक हजार शहरी युवकों से भी भेंट-वार्ता की गई। इस सर्वे से कुछ बड़ी रोचक जानकारी मिली। आज के भारतीय युवक की सर्वप्रथम समस्या है—नौकरी। उसे पहली शिकायत है आज की शिक्षा-पद्धति से। पारिवारिक जीवन के बारे में अधिकतर का कहना था कि हमारा घर निर्धन होते हुए भी एक सुखी परिवार है। बहुत-से युवक संयुक्त परिवार के समर्थक थे। उनका विचार था कि निर्धनता की स्थिति परिवार को जोड़ती है, तोड़ती नहीं। और भी दिलचस्प बात यह इन युवाओं की शिकायत थी कि हमारा समाज वृद्धजन के प्रति बहुत निर्दय है यानी इन नौजवानों को अपने कष्टों की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी बुजुर्गों की बेकसी की।

जब इन नौजवानों से सेक्स पर बात की गई तो आठ में से सिर्फ एक ही यह दावा कर पाया कि उसकी लड़कियों से मित्रता है। लगभग ७२ प्रतिशत की दोस्ती अपने ही सेक्स तक सीमित थी। लड़के-लड़कियों का यह अलगाव मध्य-युगीन मूल्यों की देन है। अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे और स्वयं को नई रोशनी का

बताने वाले यहां आकर हथियार डाल देते हैं। अविवाहित युवकों को शहर में मकान मिलना मुश्किल हो जाता है और लड़कों से बरावरी से वात करने और मिलने-जुलने वाली लड़की का नाम मुहल्ले-भर की जवान पर चढ़ जाता है। वेटी को आजादी देने के विंदु पर पहुंचते-पहुंचते हजारों आधुनिकों की उदारता चुक जाती है। ऐसे में स्वच्छंद समाज की तो वात ही उठानी व्यर्थ है।

यहां भी पुराने और नये की चौखट पर खड़े समाज के दोगले उसूल कुछ अजव रंग दिखा रहे हैं। लड़कियां पढ़-लिख रही हैं, घरों से वाहर आ गई हैं, कॉलेज के वाद-विवादों में लड़कों से वढ़कर वोलती हैं, वसों में कंधे-से-कंधा मिलाकर धक्का देती चढ़ जाती हैं। कमाऊ पत्नी महंगी शहरी जिंदगी की अनिवार्य शर्त वन गई है। लेकिन अभी भी ऐसे घर वहुतायत में पाए जाते हैं जहां लड़की अपनी पसंद के लड़के से शादी करना चाहे तो कुनवे की नाक कट जाती है। "खानदान अपनी टक्कर का होना चाहिए"—"धर्म अलग नहीं होना चाहिए।" पुरानी पीढ़ी अभी तक वेटे को किस्मत की लॉटरी का खुला टिकट मानती है। ऐसे में वेटा जव अपने साथ पढ़ने वाली वुद्धिमती कन्या को हाथ पकड़कर सामने ला खड़ा करता है तो मां-वाप आग-ववूला हो जाते हैं। इसी तरह वेटा कॉलेज के दिनों में कितना ही स्वतंत्र विचारों का क्यों न हो—जव उसकी शादी के लिए इश्तहार दिया जाता है तो उसकी खोज एक 'क्वांरी दुलहन' पर जा अटकती है।

समय दूर नहीं जव दोनों पीढ़ियों को अपनी नजरों से जाले उतारने होंगे। जीवन के कटु ग"।.थ उन्हें और भी इस तरफ धकेल रहे हैं। स्त्री-पुरुप-सम्वन्ध अव वे नहीं रह सकते जो सदियों से चले आ रहे हैं। उनमें परस्पर सद्भाव और मित्रता वढ़ रही है। न कोई वड़ा है न छोटा, न ऊंच न नीचा। न स्त्री मात्र रोटी पकाने और न पुरुप केवल पैसा कमाने की मशीन हैं। दोनों को अपनी-अपनी एक सी आवश्यकता, अनिवार्यता है। यह इलेक्ट्रोनिक युग है जव हर पांच साल में वुद्धि का माप (आई०क्यू०) वदल जाता है। पांच साल पहले सत्रह साल का लड़का या लड़की जिस अंदाज से सोचता था, आज वही स्तर ग्यारह-वारह साल के वच्चे का है। अमेरिका में एक फिल्म वनी, 'वाइल्ड इन द स्ट्रीट्स'। उसमें दिखाया गया है कि पूरे मुल्क को १५ साल के किशोर अपनी मुट्ठी में कर लेते हैं। उनके मनमाने शासन से पीड़ित एक ग्यारह वर्ष का वच्चा लाचारी, क्रोध और झुंझलाहट से वुदवुदाता है, "वारह साल से ऊपर का कोई व्यक्ति विश्वसनीय नहीं।"

यह फिल्म न हास्यास्पद है और न महज फेंटेसी। यह एक भयानक यथार्थ है। यह हमें चेतावनी देती है कि जव तक दृष्टिकोणों की खाइयां दोस्ती के पुल से न वांधकर नादिरशाही तलवार से पाटने की कोशिश होती रहेगी, कोई विश्वास का पात्र नहीं वन पाएगा।

सन् २०००

कल्पना के झरोखे में २१वीं सदी के भारत का एक चित्र। उस नये भारत पर तत्कालीन विश्व-समाचार-जगत् की क्या प्रतिक्रिया होगी—प्रस्तुत है :

पुरुष-सौन्दर्य-प्रतियोगिता के समावेश को प्रणाम। इन सालाना 'मिस्टर इण्डिया' साहब का राजनीतिक प्रभाव भी कुछ कम नहीं। तानाशाह से इनकी निकटता होने के नाते उसी पुरानी कहावत 'एक बलिष्ठ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क होता है' का बोलवाला है। यही कहावत आज का सर्वोत्तम नारा है। चूंकि मिस्टर इण्डिया का मस्तिष्क 'स्वस्थतम' है, वे ही हर साल शिक्षा-मन्त्री बनाए जाते हैं। पिछले कई वर्षों में यह अनुभव हुआ है कि हर नया मिस्टर इण्डिया किसी-न-किसी क्षेत्रीय भाषा का समर्थक था। देश को इसमें विशेष लाभ हुआ है। जनता को लगभग सभी भाषाओं का 'क-ख-ग' तो आ ही गया है जो कि वास्तव में सराहनीय है। भारतवासियों का जल्दी ही भाषाविद् हो जाना निश्चित है।

—न्यूजवर्क (अमेरिका)

खाद्य-दिवस पर तानाशाह-राष्ट्रपति ने संवाददाताओं से कहा कि खाने की समस्या सुलझ जानी चाहिए और देश में खाना बहुतायत में हो जाना चाहिए। राष्ट्रपति के इस ऐलान के बाद खाने की समस्या हल हो गई है, क्योंकि अखबारों में भूख के कारण मृत्यु इस दिन के बाद पढ़ने में नहीं आई। अमेरिका के नीग्रो-राष्ट्रपति, अब्राहम लिंकन द्वितीय ने भारत की खाद्य-समस्या पर टिप्पणी करते हुए कहा कि अमेरिका के श्वेत अल्पसंख्यकों को इस दृष्टान्त से चेत जाना चाहिए और यह खूब अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि तानाशाही के अंजाम है—भूख और पट्टी-बन्द मुंह।

—टाइम (अमेरिका)

अणुवम की प्राप्ति में भारत को अगणित कष्ट और असीम दरिद्रता का सामना करना पड़ा। लेकिन वम की प्राप्ति के साथ एक और प्राप्ति हुई—वह थी चीन की मित्रता। अव भारत और चीन के वीच सांस्कृतिक और व्यापारिक प्रतिनिधि मण्डलों का जैसे तांता लगा हुआ है और पाकिस्तान की उपमा उन दोनों देशों के समाचारपत्रों में दी जाती है एक ऐसे कमजोर व्यक्ति से, जो पश्चिम की जूठन पर जी रहा है।

—द इजिप्शियन हरम (काहिरा)

तानाशाही खत्म करो। तानाशाही प्रेम का गला घोटती है—जिसकी लाठी उसकी भैंस का सिद्धान्त भारत की आत्मा के विरुद्ध है। आध्यात्मिकता ही हमारा एकमात्र सहारा है। तानाशाही हाय-हाय! शंकराचार्य की वाणी···क्या ये एक दिन के सुल्तान मतदाताओं से अपने भाग्य का निर्णय कराने की हिम्मत रखते हैं?···

—सड़क पर उड़ता एक अतिदुर्लभ अंडरग्राउंड पोस्टर का टुकड़ा

पांच वर्ष तक पृथ्वी के गर्भ में सोए रहने के पश्चात् एक महात्मा जीते-जागते वाहर निकल आए। उनके मुखमण्डल पर तेज था और अंगों में स्फूर्ति। हजारों लोगों की उमड़ती हुई भीड़ उनके दर्शन करके धन्य हुई और उसे महात्माजी की चमत्कारी सिद्धि में अपने पापों और कष्टों से निवारण की किरण दिखाई दी।

···'प्रयाग' पत्रिका से उद्धृत

राष्ट्रीय अभिलेखागार पर शताब्दी की धूल इकट्ठी हो गई है। दीमकों के पैदा हो जाने से फाइलों की दशा और भी जर्जर हो चली है। दीमकों ने १९८४ तक के रिकार्ड तो भूखवश खा ही डाले हैं, जो वचे हैं, वे 'कीपर्स' के लिए समस्या का विषय हैं। तानाशाह के हस्ताक्षरों के विना एक सिक्का तक खर्च करना गैरकानूनी है और यदि तानाशाह को कीटाणुनाशक दवाइयों को खरीदने की अर्जी दी गई तो उसकी मंजूरी में समय लगेगा और तव तक वचे हुए रिकार्डों का भी निश्चित सफाया हो जाएगा।

तानाशाह का हर छोटी-से-छोटी चीज पर निजी दृष्टि रखने का ढंग निश्चित ही वधाई व सराहना का विषय है।

—द वारडियन (लन्दन)

भारतीय रेल-जाल, जो दुनिया में दूसरे नम्बर पर है, इस समय शस्त्र, गोलावारूद और सिपाहियों को सीमाओं और तटों की ओर ले जाने में व्यस्त है। यह समझ में नहीं आता कि भारत आखिर क्यों परम्परागत लड़ाई की ही सम्भावना कर रहा है जवकि उसके विरोधियों के पास अदृश्य 'मृत्यु-किरणें' हैं? यह वात भी

आश्चर्यजनक है कि अपनी अवश्यम्भावी मृत्यु को पास खड़ा देख भी भारत अपने दार्शनिक सन्त चार्वाक् की नसीहतों से लाभ क्यों नहीं उठाता और 'क़र्ज़ लेकर घी पीने और मौज उड़ाने' का रास्ता क्यों नहीं अपनाता ?—वह रास्ता, जिसमें न दरिद्रता है और न सैनिक निरर्थकताओं पर अन्धाधुन्ध व्यय।

—द टाइम्स (लन्दन)

भारतवासी एक ऐसे शोषण का सामना कर रहे हैं जो उन पण्डितों की प्रार्थना-चालित अकर्मण्यता से कहीं कठोर है जिन्होंने इस देश पर सदियों तक राज्य किया।

बगावत की लहर कब तक न आती ? यह बगावत उठी आर्थिक स्थिति के विरुद्ध जब सिपाहियों में (जो कुल आबादी का ५० प्रतिशत हैं) रसद बांटते समय कहा गया कि वे अपने भूख से पतलाए पेटों पर पेटियां ज़्यादा-से-ज़्यादा कस लें। जब अधिक दुर्बल सिपाही मरने लगे तो कहा गया कि यही देश के लिए हितकारी है। जनसंख्या इसी तरह काबू में आएगी। जो मरेगा, उसे मरणोपरांत शहीद का तमगा मिलेगा।

अब लोग बिना परमिट जहां चाहें नहीं आ-जा सकते। असल में तो लोगों के पास घूमने-घामने का अवकाश ही कहां है। शायद भारत अपनी लम्बी सुस्ती और निकम्मेपन की कीमत चुका रहा है।

—ला मों (पेरिस)

विशाल भारत, बुद्ध का यह देश, पश्चिम के धोखे का शिकार बनकर रह गया है। पश्चिम ने इसे उसी तरह गहरे अंधेरे गड्ढे में डाल दिया है, जैसे किसी आततायी ने भोले, कोमल शिशु को गलत राह पर भटका दिया हो। इन सारे दांव-पेचों और हथकण्डों का कुल जमा-जोड़ यह है कि भारत के उद्योग अन्तिम सांस ले रहे हैं। कागज की कमी के फलस्वरूप पहले ही से मुंह-बन्द अखबारों के पूर्व निर्धारित कोटे में ५० प्रतिशत की और कमी कर दी गई है और इस्पात की कमी के कारण भारी मशीनों के सारे कारखाने शान्त पड़े हैं। जाहिर है कि इस बीमारी को फैलाने वालों का ध्येय आर्थिक नहीं, राजनीतिक है।

—पीपल्स डैली (पीकिंग)

हालांकि चीन अब उसका दोस्त है, भारत सच्चे अर्थों में कम्युनिस्ट-विरोधी है। और फिर मित्रता के कच्चे-पक्के तानों-बानों को कब कौन समझ पाया है ? अब तो लगता है कि शायद दोस्ती के पवित्र बन्धन भी सामयिक और अस्थिर हो सकते हैं। पचास साल भी नहीं हुए जब भारत और चीन गरज-गरजकर अपने भाईचारे का डंका पीट रहे थे। अब वही शोर फिर। क्या इन दोनों राष्ट्रों की स्मरणशक्ति इतनी क्षणभंगुर है ?

हमारे कन्धे-से-कन्धा मिलाकर अमेरिका ने भी भारत की शारीरिक व बौद्धिक भूख सदा मिटाने का वादा किया किन्तु भारत अपने हितैपियों से भागता ही रहा है।

—वोल्गा (मास्को)

संसार के अधिकतम अनपढ़ देशों में से एक है भारत, जो एक लम्बे समय तक चश्माधारी बौद्धिक के हाथों में कठपुतली बना रहा—वे बुद्धिवादी, जिन्हें आनुभविक कर्मण्यता का कोई ज्ञान न था। अब, एक साक्षात् चश्माधारी नीरो इसके विशाल आंगन में अपना कोड़ा घुमाता ढोल पीटता डोल रहा है और दो पाटों के बीच पिसी जनता अभी तक मनुज-क्रान्ति के पहले चरण तक को छू नहीं पाई है। सभ्यता की क्रान्तिकारी दौड़ की पहली मंजिल—कृपि-क्रान्ति।

—फ्यूजी यामा (जापान)

भारत—यह नाम ही अर्थहीन हो चुका है क्योंकि भारत के अधिकांश राज्य अधिक-से-अधिक स्वराज्य पाने के प्रयत्न में अब स्वतन्त्र इकाइयां बन गए हैं। और भी छोटे-छोटे राज्यों में बंट जाने के साथ-साथ इस समय भारत में सन् साठ की १७६ भापाओं और ५५४ लिपियों के स्थान पर ३०० भापाएं और ८६२ लिपियां हैं। ऐसी स्थिति में राष्ट्र-भापा या सम्पर्क-भापा की चर्चा ही निरर्थकहै।

—द ईस्टर्न रिव्यू (अफ्रीका)

भारत की माली और सियासी उथल-पुथल से भी बड़ा है उसके जिन्दा रहने का मसला। करीब चौथाई सदी से नसबन्दी कानून मुसलमानों को छोड़कर सबपर लागू है। अंजाम है कि भारत के मुसलमानों ने कुल आबादी का ५६'०७ फीसदी होने का दावा किया है। उनकी मांग है कि रायशुमारी की बिना पर उन्हें मुसलमानिस्तान मिलना चाहिए। भारत के मुसलमानों की यह मांग रूहानी और जज्बाती तौर पर तो मौजूं है ही, उनकी दलीलों से भी इंकार नहीं किया जा सकता।

—द पाकिस्तान क्लाइम्क्स (लाहौर)

खण्ड 2



व्यक्तिगत

—तू है
दुर्दाम बीज
फूटता है फाड कर छाती
मेरे बावजूद—
गाधी
कितनी भी सख्त हो पर्त ।
वर्ना
अभी भी कैसे मेरे मन मे
हसरत बाकी है
अनहोना पाने की
समुद्र से नमक उगाने की ?
देख
मेरा हाथ तेरी ओर है
जरूर है—जरूर
तेरे अंकुर मे अभी बेइन्तहा जोर है !

एक सितारा रूपहले पर्दे का : अमिताभ बच्चन

जब मैं इस भेंट-वार्ता के लिए अमिताभ बच्चन से मिलने गई, बच्चन-परिवार किसी कदर उथल-पुथल के माहौल से गुजर रहा था। बरसों दिल्ली के १३-विलिंगडन क्रेसेंट पर रहने के बाद, इस आश्वासन के बावजूद कि जब तक हरिवंशराय बच्चन अपनी तत्कालीन पाण्डुलिपि पूरी न कर लें, उन्हें किसी प्रकार की बाधा न पहुंचाई जाएगी, अचानक एक महीने के भीतर मकान खाली कर देने के सरकारी आदेश आ गए थे। तेजीजी ने बच्चनजी को सब पुस्तकों के बंबई रवाना कर दिया जिसमें वे सारी उखाड़-पछाड़ से बच जाएं और स्वयं सामान की पैकिंग शुरू करवा दी। अमिताभ भी तभी बीमारी से उठ कर चुके थे और हर लोकप्रिय कलाकार की तरह उनकी बीमारी भी तमाम पत्र-पत्रिकाओं की चर्चा बनी हुई थी। ऐसे में मुझे वहां जाने में सहज संकोच था लेकिन तेजीजी ने बड़े इसरार से मुझे आमन्त्रण दिया। उनका कहना था कि यह भेंट-वार्ता किसी हद तक उनके बेटे अमिताभ की बीमारी के 'असाध्य' होने की अफवाहों को झुठलाने में भी मददगार सिद्ध होगी।

तरह-तरह के छोटे-बड़े पैकिंग केसों में बचते-बचते हम कोठी के पीछे वाले बड़े दालान में छतरी के नीचे जा बैठे। अमिताभ से मेरा पहला स्वाभाविक प्रश्न था, "तबीयत अब कैसी है ?"

"बस लिवर, हार्ट, किडनी…सब खलास समझिए…" उत्तर सुनकर मैंने चौंककर उनकी ओर देखा। मुख गंभीर लेकिन आंखों में शरारत की गहरी चमक।

"देखो इन्दु, तुम्हें मेरा बेटा बीमार लग रहा है ? अखबार वाले ऐसी ऊट-पटांग बातें लिखते हैं कि…एक दिन बंबई से जया का फोन आया। रो-रोकर उसका बुरा हाल था। किसीने उससे कह दिया कि अमित 'कोमा' में है। मैंने

उसे समझाया कि पागल हो गई हो क्या ? ऐसा होता तो तुम्हें सबसे पहले खबर न पहुंचती ? तुम क्या दूर बैठी हो ? खुद आकर देख लो···" तेजीजी की आवाज में मेरा के प्रति क्रोध और दुख दोनों थे। मैंने कहा, "तो आइए अमिताभजी, आपकी तबीयत की पूरी परीक्षा हो जाए। जमकर बातें करते हैं—देखें, आप थकते भी हैं या नहीं।"

चाय के प्याले मेज पर पहुंच गए, पेटियों की ठुकाई कुछ देर को रुकवा दी गई और हमारी बातें शुरू हो गईं :

इन्दु : अमिताभजी, मैंने आपको बचपन से जाना है। आप इतने शर्मीले होते हुए भी फिल्म की दुनिया में, और वह भी अभिनय की दुनिया में कैसे चले आए ? ये दोनों बातें एकसाथ कैसे सध गईं ?

अमिताभ : इन्दुजी, शर्मीला तो मैं अब भी हूं लेकिन जब कैमरे के सामने जाता हूं तो यह शर्मीलापन खो देता हूं और जो किरदार होता है, जो चरित्र मेरे सामने है, जिसे मुझे अदा करना होता है—उसीके सांचे में ढल जाता हूं। इसीलिए अपने निजी जीवन में चाहे मैं शर्मीला रहूं लेकिन एक बार कैमरे के सामने आ जाता हूं तो उस समय मैं भूल जाता हूं कि मैं कौन हूं और क्या कर रहा हूं। मैं सिर्फ एक ही बात ध्यान में रखता हूं कि मैं जो भूमिका अदा कर रहा हूं, पूरा-का-पूरा वही बन जाऊं।

इन्दु : क्या आपने कभी यह महसूस किया है कि जो भूमिका अपने स्वभाव से मिलती-जुलती है, वह निभानी ज्यादा आसान है ? जैसे 'आनंद' में आपकी भूमिका···? या ऐसी कोई बात नहीं है ?

अमिताभ : हां, कभी-कभी ऐसा किरदार भी होता है जिसमें मैं भूल जाता हूं··· बल्कि कहूं कि देखनेवाले, या मुझे जानने वाले, यह भूल जाते हैं कि मैं उससे अलग हूं। वह इतना मुझ-जैसा होता है। लेकिन एक आर्टिस्ट की हैसियत से तो बड़ा मुश्किल है कहना···। हम लोग हर दिन कम-से-कम दो या तीन किरदार करते हैं। एक से दूसरे में 'जंप' करना पड़ता है। सब कुछ बदलता रहता है और उसमें फिट होना पड़ता है। यह कलाकार का धर्म है। और यह कहना कि जो हमारा अपना स्वभाव है, निजी रुझान है, उसीके मुताबिक हमें कोई रोल करना है, वही करना अच्छा लगता है—यह बात नहीं है। हम तो वही करना चाहते हैं जिसमें हमें सबसे ज्यादा मौका मिले नई चीजों का। जो अपनी निजी प्रवृत्ति होती है, उसे हम ज्यादातर दबाने की कोशिश करते हैं। उसका अभिनय से कोई संबंध नहीं रहता।

इन्दु : एक जमाना था जब आपके पिताजी को फिल्मों में गीत लिखने और

मा को फिल्मों में अभिनय करने का निमंत्रण मिला था। उन्होंने तो यह लाइन नहीं चुनी, आपने चुन ली। आप अपने बच्चों के लिए क्या चाहेंगे?

अमिताभ : मेरे माता-पिता ने मुझपर छोड़ दिया था कि मैं जैसा चाहूं, करूं और मैं भी यही चाहूंगा कि मेरे बच्चे भी वही करें, जो वे खुद चाहें।

इन्दु : वैसे, अभी तो वे बहुत छोटे हैं। शायद अभी तो यह भी नहीं जाना जा सकता कि वे क्या चाहेंगे।

अमिताभ : वैसे, मेरी बेटी मुझे लगता है कि कलाकार बन सकती है। जो उसका ढंग है, जो उसका रूप है, जैसा उसका रवैया है, लगता तो है…

इन्दु : आपने अपने पिता से सीखा कि आज जहां हो, कल उससे आगे बढ़ो। अपनी फिल्मों को देखते हुए आप क्या कहेंगे कि इसपर आपने कहां तक अमल किया है?

अमिताभ : यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि हम अपने-आपसे लड़ें, खुद अपने को हराने की कोशिश करते रहें यानी हम जो आज करें, उसीको सामने रखकर उससे कुछ और बेहतर करने की कोशिश करें। अगर हम सिर्फ उन्हीं रास्तों, उन्हीं नियमों पर जाएंगे, जिनपर सारी 'इण्डस्ट्री' चल रही है या जो और लोग कर चुके हैं, कर रहे हैं, उसीका उदाहरण सामने रखेंगे तो आगे बढ़ने की जगह हमारे कदम फिसल सकते हैं।

इन्दु : आपने बहुत-सी फिल्मों में बहुत-सी भूमिकाएं निबाही हैं और अनगिनत संवाद भी बोले हैं। अचानक अपनी किसी लोकप्रिय फिल्म से डायलॉग का एक टुकड़ा बोलने को कहूं तो कौन-सा सुनाएंगे?

अमिताभ : क्या डायलॉग सुनाऊं? अंग्रेजी का एक छोटा-सा टुकड़ा है—दरअसल, 'अमर, अकबर, ऐण्टनी' का एक गाना रेकार्ड करते समय मुझसे कहा गया कि मैं बीच में कुछ बोलूं। मुझे कुछ समझ नहीं आ रहा था कि क्या कहूं…बस, कुछ ऐसे ही अंट-शंट बोल गया:

"You see, the whole country of the system is the juxtaposition by the haemoglobin in the atmosphere because you are the sophisticated in the direction investigated by the exuberence of your own audacity."

इन्दु : ये सब अंट-शंट हैं? शब्द तो ऐसे हैं कि लगता है, कोई बड़ी गहरी बात कही जा रही है।

अमिताभ : जी हां, बस कुछ भारी-भरकम शब्द हैं जिनके मानी कोई नहीं।

इन्दु : आज जब सिने-जगत् में आए, उस समय फिल्मों का वातावरण ऐसा था कि हीरो आम आदमी से बहुत मिलता-जुलता होने लगा था। लोगों को लगता था कि हीरो हमसे अलग नहीं है बल्कि हमारे ही जैसा कोई साधारण व्यक्ति है। लेकिन आप तो ऐसे हीरो नहीं थे। आप आम आदमी से ज्यादा लम्बे, गंभीर, आपका उच्चारण कहीं ज्यादा तराशा हुआ, आपकी आवाज आम आवाज से कहीं ज्यादा गहरी, छूने वाली। ऐसे वातावरण में आप नम्बर एक कैसे बन गए ?

अमिताभ : सबसे पहले तो मैं एक बात का खण्डन कर दूं कि यह नम्बरों का जो सिलसिला है, इसमें मैं कतई विश्वास नहीं करता। यह कहना कि फलां आदमी नम्बर एक है और फलां आदमी नम्बर दो—ऐसा लगता है, जैसे हम सब-के-सब एक जेल में कैद हों और सबकी जेबों पर एक-एक नम्बर लगा दिया गया हो। तो, सबसे पहले मैं इसका खण्डन कर दूं।

दूसरी बात यह है कि जहां तक दर्शकों का हीरो से 'आइडेण्टिफिकेशन' का सवाल है, मेरे खयाल से पहले जमाने में आदमी उतना ज्यादा 'आइडेण्टिफाई' नहीं करता था, जितना अब करता है। इसकी वजह यह है कि आजकल जितने नये कलाकार आए हैं, उन सबका व्यवहार बड़ा सीधा-सादा और आम-फहम है। हमारे तौर-तरीके, उठना-बैठना सब बहुत सामान्य है और इसके अलावा, मेरे खयाल से, हमारा संपर्क आजकल के नवयुवकों के साथ ज्यादा घनिष्ठ है बनिस्बत उस जमाने के जबकि कलाकार और जनता के बीच काफी एक फासला रहता था। इसलिए मैं तो यह बात स्वीकार नहीं करूंगा कि खास तौर पर मेरा 'आइडेण्टिफिकेशन' आम जनता के साथ नहीं हो पाया है, क्योंकि मैं तो इसका उल्टा ही समझता हूं।

इन्दु : क्या आप यह नहीं मानते कि किसी हद तक आप उनके एक आदर्श को पूरा कर रहे हैं ? आप उनका वह सपना हैं जिसमें वे देखते हैं कि हम ऐसे बन पाएं—हो पाएं। वह आप उनके लिए चित्रपट पर करके दिखाते हैं।

अमिताभ : आदर्श तो तभी बनेगा न, जब हम कुछ करके दिखाएंगे। वैसे चित्र-पट पर आ जाने से आप फोकस में आ जाते हैं, कलाकार बन जाते हैं और आपकी हर चीज पर ध्यान दिया जाने लगता है। जब हम कुछ नहीं थे, फिल्म-जगत् में नहीं आए थे तब तो किसीने हमें अपना आदर्श नहीं बनाया। उस वक्त उन्होंने नहीं देखा कि हम कुछ करके दिखा सकते हैं। या उस वक्त उन्हें 'आइडेण्टिफिकेशन' नहीं मिल

रहा था। क्योंकि जब हमने कुछ किया तब उन्होंने उसको देखा, उसको चाहा, उसको सराहा। लेकिन आदमी तो हम वही हैं। छः फुट दो इंच तब भी थे, छः फुट दो इंच अब भी हैं। आवाज वही थी, बोलने का तरीका वही था, काम करने का तरीका वही था।

इन्दु : तो आप नहीं मानते कि आप और अभिनेताओं से अलग हैं ?

अमिताभ : नहीं। मैं ऐसा नहीं मानता। मैं तो मानता हूं कि हम सब एक ही ढांचे में हैं।

इन्दु : कलाकार के नाते आपकी सामाजिक प्रतिबद्धता कितनी है ?

अमिताभ : मैं यह कहूंगा कि सिर्फ एक फिल्म-कलाकार को ही ऐसी 'कमिटमेंट' के बारे में नहीं सोचना चाहिए। और न ही उसके ऊपर यह दबाव रहना चाहिए कि साहब, आप ही जनता का कल्याण कर सकते हैं, उसका उद्धार कर सकते हैं—अपनी करतूतों से जो आप फिल्मों में कर रहे हैं। हम बहुत-सी चीजें करते हैं जो हमें मालूम है कि हमें नहीं करनी चाहिए। लेकिन मैं समझता हूं कि 'कमर्शियल सेट-अप' (व्यावसायिक ढांचे) और 'सोशल कमिटमेंट' (सामाजिक प्रतिबद्धता)—दोनों में बहुत भारी अन्तर है। हमपर यह इल्जाम लगाया जाता है कि हम लोग आजकल के नवयुवकों को बिगाड़ रहे हैं, उनके मन में कुछ और भावनाएं पैदा कर रहे हैं। शायद सामाजिक प्रतिबद्धता ये ही हुई एक तरह से…?

इन्दु : एक तरह से तो—हां।

अमिताभ : तो यह गलत है। मैं बिलकुल समझता हूं कि व्यावसायिकता को अलग रखना चाहिए और सामाजिक प्रतिबद्धता को अलग रखना चाहिए। उसके लिए और बहुत-से लोग हैं। वे भारतवर्ष में हैं उस तरफ देखने के लिए, बजाय इसके कि फिल्म कलाकार ही से यह उम्मीद की जाए कि वह यह भावना पैदा करे।

इन्दु : अपनी 'ऐंग्री यंगमैन की इमेज' (क्रुद्ध युवक-छवि) को ही ले लीजिए। इंसान नाराज क्यों होता है ? खास तौर से नौजवान क्यों हो जाता है ? जब समाज उसपर ज्यादती करता है तभी वह नाराज होता है। तो, एक तरह से प्रतिबद्ध तो आप हो गए जब इस तरह की छवि आपकी बनी या आपने बार-बार ऐसे नौजवान की भूमिका अदा की ?

अमिताभ : वैसे तो देखिए, गुस्सा किस आदमी में नहीं रहता ? वह तो हर आदमी में रहता है…वर्ना वह तो 'एब्नॉर्मल' आदमी हो जाएगा। और जिसे आप कहते हैं कि वह समाज के विरुद्ध जा रहा है—तो, अगर समाज में कुछ ऐसी बात हो रही है और उसके खिलाफ आदमी खड़ा

हो जाता है तो यह बड़ी 'नार्मल' बात है। हम इसीको फिल्म में दिखा रहे हैं। और उसको जरा बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने की जगह, मैं तो कहूंगा कि जरा सजाकर हम उसे पेश कर रहे हैं।

इन्दु : जया भादुड़ी आपकी हो गईं और हमने एक बड़ा महत्त्वपूर्ण, प्रिय फिल्मी कलाकार खो दिया। क्या आप हमें यह तसल्ली दे सकते हैं कि उनके एक अच्छी गृहिणी हो जाने से, अच्छी मां बन जाने से आपके कलाकार को ज्यादा ऊंचाइयों तक पहुंचने में मदद मिली ?

अमिताभ : बात यह है कि कलाकार के जीवन में जितना श्रेय पत्नी को मिलना चाहिए उतना ही पति को भी मिलना चाहिए। और 'वाइसी वर्सा'—जितना एक पति को मिलना चाहिए उतना ही एक पत्नी को भी मिलना चाहिए। क्योंकि एक कलाकार का गृहस्थ जीवन जब तक सुखी न हो, उसमें चैन न हो, घर वापस आए वह और उसे सुख-शांति का वातावरण न मिले तो मेरे खयाल से जो छोटा-बड़ा सृजन हम करते हैं, सुबह से निकल के, वह भी न हो पाए। यह बहुत जरूरी है कि घर के वातावरण में शांति रहे—जिससे हम लोग कैमरे के सामने जाकर जो 'क्रिएशन' करने का प्रयत्न कर रहे हैं, वह पूरी तरह हो सके। दिमाग में अगर कुछ और बातें रहेंगी तो उसमें अधूरापन दिखाई देगा। जया ने मेरा बहुत साथ दिया है, क्योंकि उन्होंने एक मेरा पूरा विभाग संभाल लिया है। और यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण विभाग है, क्योंकि इसके बिगड़ जाने से बहुत-सा नुकसान हो जाएगा। इसको सही रखने में शायद इतनी ज्यादा एकाग्रता की जरूरत न पड़े लेकिन बिगड़ने में बहुत कम वक्त लगता है।

इन्दु : तो हम यह मानें कि जयाजी किसी सीमा तक वह निभा रही हैं कि जो कहा जाता है···

अमिताभ : सरटेन्ली···सरटेन्ली···(अवश्य···अवश्य)

इन्दु : जहां आप जाते हैं, प्रशंसकों की भीड़ लग जाती है। बच्चे आपको 'डॉन अंकल, डॉन अंकल' कहकर आवाजें देने लगते हैं। कैसा लगता है उस वक्त ?

अमिताभ : अच्छा लगता है। यह भी अहसास होता है कि जो हम लोगों ने किया, वह कहीं-न-कहीं जाकर जनता को छू गया और इससे ज्यादा संतोष हम लोगों को, एक कलाकार को अपने जीवन में, और क्या मिल सकता है ?

इन्दु : आपको इतनी तरह की बोलियां आती हैं—बनारस की, इलाहाबाद की, लखनऊ की···कभी पूरब की तो कभी पश्चिम की बोली बोलते

हैं आप। और बम्बूई बोलते हैं। इतनी सारी 'हिन्दियां' कहां से सीख लीं?

अमिताभ : देखिए, मेरी पैदाइश इलाहाबाद में हुई और वहां की तो एक तरह से मातृभाषा अवधी ही है। हरेक आदमी वहां अवधी बोलता है—माली से लेकर लेखक तक। इस माहौल में मैं पला। बाबूजी से मिलने आने वाले जितने थे, सब अवधी बोलते थे। अवधी मैंने वहां सीखी। सीखी क्या, एक तरह से कहिए कि घर में सब जिस तरह हिन्दी बोलते हैं, उसी तरह अवधी भी बोल लेते हैं। और रही इधर-उधर की भाषाएं—तो वे कुछ सुनके, कुछ नकल करके…इसमें तो फिर कलाकार आ जाता है…।

इन्दु : अच्छा, खतरे भी तो हैं आपके व्यवसाय में? शेर से लड़ जाते हैं, चीते से भिड़ जाते हैं—कभी पानी में कूद रहे हैं, कभी आग से निकल रहे हैं…।

अमिताभ : हां ये खतरे तो उठाने पड़ते हैं सबको। मैं यह नहीं कहता कि सावधानी नहीं बरती जाती। 'प्रिकॉशंस' ली जाती हैं लेकिन इसके बावजूद दुर्घटनाएं हो जाती हैं, चोटें आती हैं। खतरा तो रहता ही है इस तरह के काम में। ध्यान रखना पड़ता है कि किस तरह जानवर को 'हैण्डीकैप' करके, उसपर हावी होकर लड़ना है लेकिन जानवर तो जानवर है। कुछ पता नहीं होता कि कब नाराज हो जाए। इसलिए जानवर के साथ खास तौर से, मैं समझता हूं कि काफी खतरा बना रहता है।

इन्दु : फिल्मों की दुनिया में स्पर्द्धा के माहौल के बारे में आप क्या कहेंगे? खास तौर से आजकल तो 'मल्टी स्टारर' बहुत बनने लगे हैं। तो, एक ही फ्रेम में आप हैं और एक दूसरा हीरो है—उस समय क्या होता है?

अमिताभ : देखिए, बहुत कुछ कहा गया है इस बारे में कि 'मल्टी-स्टारर' फिल्मों में दो या तीन हीरो एकसाथ काम करते हैं तो उनमें जलन और आपसी होड़ बहुत होती है। एक स्टार अगर बड़ा है तो दूसरे का कान कटवाने का प्रयत्न करता है। लेकिन सही मायनों में ऐसा होता नहीं है। जब हम एकसाथ काम करते हैं तो पटकथा सुनकर, अपने-अपने रोल समझकर अपनी स्वीकृति देते हैं। अगर किसी भी कलाकार को बाद में महसूस हुआ कि उसके साथ अन्याय हुआ है तो यह उसकी अपनी गलती है। अगर उसने 'स्क्रिप्ट' नहीं सुनी, अपना रोल ठीक से नहीं सुना तो यह निर्देशक या निर्माता की गलती नहीं

है। या अन्य कलाकार जो उसके साथ काम कर रहे हैं—उनकी गलती नहीं है। बस, बात यही है कि उसने पहले अपने रोल पर पूरा ध्यान नहीं दिया। और यह कहना कि एक कलाकार दूसरे का रोल कटवा देता है, दूसरे की लाइनें छंटवा देता है—यह बिल्कुल वाहियात चीज है।

काटने वाला तो निर्देशक होता है और उसके दिमाग में सिवाय फिल्म की बेहतरी के और कोई सवाल नहीं होता। अगर वह समझता है कि फिल्म की बेहतरी के लिए इतना दृश्य हट जाना चाहिए तो वह कट जाता है। कई बार ऐसा होता है कि हम समझते हैं कि हमने बहुत अच्छा काम किया या बहुत अच्छा शॉट दिया, बड़ी मेहनत की—लेकिन वह अंतिम 'एडिटिंग' में जाकर कट जाता है। हमें कभी-कभी लगता है कि इसे डायरेक्टर ने काट दिया या एडीटर ने काट दिया। लेकिन पूरी फिल्म देखकर निर्देशक या एडीटर ही तय कर सकता है कि अमुक दृश्य का उससे तालमेल बैठता है या नहीं। अलग से वह टुकड़ा अच्छा हो सकता है लेकिन चरित्र के विकास की दृष्टि से या फिल्म की पूरी बनावट को देखते हुए अगर वह यह समझता है कि यह ठीक नहीं बैठता और उसे काट देता है तो बुरा नहीं मानना चाहिए।

इन्दु : हम यहां बगीचे में बैठे हुए हैं। कभी ऊपर से हवाई जहाज निकल जाता है, कभी बराबर से बस तेजी से गुजर जाती है। तरह-तरह की आवाजें आ रही हैं। खैर, यह तो जिंदगी है। लेकिन इस सारे शोर-शराबे के बीच इंसान के कुछ लम्हे होते हैं जब वह अकेला हो जाता है, उदास हो जाता है और वह इंसान अगर कलाकार भी हो और संवेदनशील हो…आपके ये क्षण हिन्दी और अंग्रेजी की कविता बनकर ढलते रहे हैं। हमें कुछ पंक्तियां नहीं सुनाएंगे?

अमिताभ : बहुत जमाना गुजर गया, अब तो मुझे याद नहीं है, लेकिन बाबूजी की कुछ पंक्तियां आप चाहें तो मैं सुना देता हूं। 'रश ऑफ लाइफ' पर उन्होंने एक कविता लिखी है, जो मुझे बेहद पसन्द है :

जीवन की आपाधापी में
कब वक्त मिला
कुछ देर कहीं पर बैठ कभी
ये सोच सकूं
जो किया, कहा, माना उसमें
क्या बुरा-भला ?

जिस दिन मेरी चेतना जगी
मैंने देखा, मैं खड़ा हुआ हूं
इस दुनिया के मेले में
हर एक यहां पर एक भुलावे में भूला
हर एक लगा है अपनी-अपनी दे-ले में

कुछ देर रहा हक्का-बक्का
भौचक्का-सा
आ गया कहां, जाऊं किस जा
फिर एक तरफ से आया ही कुछ धक्का-सा
मैंने भी बहना शुरू किया उस रेले में…

अफसाना लिख रही हूं : जैकलिन

इतिहास जिसे तारीख मात्र वनाने पर तुला हुआ है; जिसे व्यक्ति नहीं, सामाजिक मूल्यों की तराजू पर दिन-रात तौला जाता रहा है—उसकी दास्तान कुछ तारीखों के ताल-मेल से शुरू हो, तो इसमें ताज्जुब क्या ?

विश्व के इतिहास में २० अक्तूवर, १९६२ एक वड़ीतारीख थी जव मेरे पति जॉन कैनेडी ने यह निर्णय लिया था कि क्यूवा में भेजे रूसी मिसाइलों को ध्वस्त करना है।

आठ वर्ष वाद फिर २० अक्तूवर, दो व्यक्तियों के जीवन की सुनहरी तिथि वनकर सारे विश्व में अजव-अजव रंगों में कौंध गई, क्योंकि मैंने (यानी—श्रीमती कैनेडी ने) ग्रीस के ६२ वर्षीय एरिस्टॉटल सॉक्रेटीज ओनासिस से विवाह कर लिया।

इन दोनों तारीखों में नायक कैनेडी ही हैं—प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से। अपने ३९ वर्षीय जीवन के आठ विवाहित वर्षों में मुझे भी निरंतर यही लगा कि मैं एक छाया वनकर रह रही हूं। एक प्रभावशाली और शहीद राष्ट्रपति की पत्नी होना अपने-आपमें ही चर्चाओं का कारण वन सकता है। परंतु लोग कहते हैं कि मेरी अपनी भी विशेषताएं कुछ कम नहीं। मैं—अमेरिकी इतिहास की दूसरी युवा 'फर्स्ट लेडी' थी और कहा जाता है कि सुंदरता और बुद्धिमत्ता के इस संयोग में मेरा कोई सानी नहीं, तभी तो राष्ट्रपति कैनेडी का साया उठ जाने के वाद भी जनता लगभग दो हजार पत्र प्रति सप्ताह मुझे लिखती रही ! इतने पत्र तो राष्ट्रपति ट्रूमैन और आइजन हॉवर को भी कभी न लिखे गए, किन्तु आज जिस तथ्य को एक अप्रत्याशित घटना के सहारे उभारा जा रहा है, उसे 'व्हाइट हाउस' के वोझिले गौरव से दवे रहने के दौरान किसीने कहने का साहस नहीं किया, वह यह कि जैकलिन को राजनीति से कभी दिलचस्पी नहीं रही। उसे तो शौक है साहित्य

का, इतिहास का, कलाओं का···।

जो एक व्यक्ति सबसे पहले मेरे इस मानसिक भटकाव को समझ पाया, वही मेरा जीवनसाथी बन गया। एरिस्टॉटल सॉक्रेटीज ओनासिस में जहां मुझे अरस्तू का विवेचन और सुकरात की बुद्धिमत्ता नजर आती थी, वहीं उसमें यूलिसिस की भ्रमण-प्रवृत्ति भी थी। साथ में था अदम्य उत्साह जिसे लेकर वह सोलह वर्ष की किशोर वय में ही सिर्फ अस्सी रुपये जेब में डालकर अर्जेंटीना पहुंच गया था। वहां वह रात को टेलीफोन ऑपरेटरी करता और दिन में तम्बाकू की दलाली। धीरे-धीरे भाग्य का सितारा ऐसा चमका कि पच्चीस साल की आयु में ओनासिस लखपति बन गया—एक विशाल जहाजी बेड़े का स्वामी।

मैंने ओनासिस से शादी क्या की, मानो एक आफत मोल ले ली। चारों तरफ से कटूक्तियों की बौछार आ पड़ी। एक मित्र ने कहा, "यह अविश्वसनीय है। ओनासिस निहायत गंवार है। बेहद भद्दा और स्थूल।" पेरिस के एक समाचार-पत्र-विक्रेता ने आवाज लगाई, "कैनेडी-परिवार की ताजी दुर्घटनाएं···" लंदन के एक अखबार ने जैसे दुनिया के टूटे हुए दिल की दास्तान ही कह डाली, "जैकी, तुम कैसे कर पाईं?" और हॉलीवुड के बॉब होप ने अपना व्यंग्य-बाण छोड़ा, "निक्सन के सामने एक ग्रीक उम्मीदवार जो खड़ा हुआ है," एक अमेरिकी संवाददाता का कहना था, "अमेरिकी पुरुषत्व को पहला गहरा धक्का पर्ल हारबर में लगा था और दूसरा इस शादी ने पहुंचाया है।"

ये सारे विवाद जो सिर उठाए हुए थे, एक दिन शांत हो जाने चाहिए थे। धीरे-धीरे लोगों को समझ में आना था कि मेरा विवाह कोई राजनीतिक मसला नहीं। वह एक नितांत निजी मामला था। ओनासिस, कैनेडी-परिवार के पुराने मित्र रहे थे। जॉन कैनेडी व रॉबर्ट कैनेडी की हत्या के दुखभरे क्षणों में परिवार वालों के अतिरिक्त वे ही पहले व्यक्ति थे जो सांत्वना देने तत्काल आ पहुंचे थे। १९६३ में लंबी बीमारी के बाद उनकी ही नौका 'क्रिस्टीना' पर मैंने काफी अरसे तक स्वास्थ्य-लाभ किया था।

'क्रिस्टीना' की कहानी भी बड़ी रोचक है। ३२५ फुट लंबा यह समुद्री महल। इसके संगमरमरी नाव-फर्श पर उतर चुके हैं एलिजबेथ टेलर और रिचर्ड बर्टन, राजकुमारी मार्गरेट और लॉर्ड स्नोडन, ग्रेस केली और राजकुमार रेनिअर, मेरी ग्राण्ट और सर विंस्टन चर्चिल। अनुदार आलोचकों ने कहा कि ओनासिस को हीरे-जवाहरात से लेकर प्रख्यात व्यक्तित्व तक, सभी कुछ संग्रह करने का शौक है और इस संग्राहक की *नवीनतम उपलब्धि मैं हूं*। शायद वे आलोचक नहीं जानते, या जानकर अनजान कर देते हैं—ओनासिस के विचित्र आकर्षण को, सम्मोहन की अगाध शक्ति को। ओनासिस जब किसीको अपनाना चाहते हैं तो उनके रोम-रोम से, हर मुद्रा, हर कार्य से आकर्षण के झरने फूट पड़ते हैं। लेकिन क्या यह

उनका दुर्गुण है ? किसीके स्वाभाविक सफल प्रयत्नों को 'हथकंडे' मान लेना उस व्यक्ति के प्रति घोर अन्याय है।

हां, तो मैं बता रही थी उस 'आनंद-नौका' के बारे में। जल और स्थल पर यह संसार का एक अद्वितीय वैभवशाली निवास था। यहां बयालिस टेलीफोन सारी दुनिया से संपर्क स्थापित करने को सदा तैनात रहते थे। पचास चुस्त चालक इसकी सेवा करते थे और इसके डैक पर दो इंजिन वाला हवाई जहाज किसी भी क्षण मेरी खाने की मेज को मनपसंद केक-पेस्ट्री से भरपूर करके मेरे चरणों पर सारी दुनिया के नायाब फूल उंडेलने को सदा तैयार खड़ा रहता था।

और मेरे विवाह की वह सुबह—हॉलैंड से आए मनों ट्यूलिपि और नीबू की कलियों की खुशबू में बसी। केवल चालीस मित्र न्योते गए थे—शायद पच्चीस मौजूद भी थे। हम, वर-वधू, इस अवसर पर एकांत चाहते थे और विज्ञापन से कतरा रहे थे परंतु दो सौ पचास पत्रकारों की फौज हमारा सुरक्षा-कवच तोड़ने को बेचैन थी। पत्रकारों के एक हेलिकॉप्टर ने हिम्मत करके उड़ान भर ही ली, लेकिन क्षण-भर में ओनासिस के हेलिकॉप्टरों ने हवा में गोता मार, उसे खदेड़ दिया। फिर पत्रकारों से लदी दस नावों ने द्वीप पर धावा बोल दिया। मेरे अनुरोध पर उन्हें द्वीप का घेरा डाल लेने दिया गया ताकि वे दूर से विवाह की चहल-पहल देख सकें। किन्तु जैसे ही उन्होंने घुसपैठ करनी चाही, ओनासिस की जल-सुरक्षा को उन्हें भगाना पड़ा। एक पत्रिका के फोटोग्राफर महोदय ने तो पैराशूट से भी नाव पर उतरने की कोशिश की थी।

विवाह-भेंट में ऐरी (एरिस्टॉटल को दिया अमेरिकी नाम) ने मुझे चौबीस कैरेट सोने के दो कंगन दिए जिनमें एक बड़े-बड़े माणिक और हीरों से जड़ा था और दूसरे की कारीगरी ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी के ग्रीक कंगन की अनुकृति थी। इसके अतिरिक्त ५०० वर्ग मील के स्कॉरपियो द्वीप पर—जिसका स्वामी मेरा स्वामी ओनासिस था—एक सौ आठ कमरों वाला एक महल विवाह-भेंटस्वरूप और एक सौ पचास कमरों वाले न्यूयार्क का फ्लैट मेरे नाम हो गया।

मैं जानती हूं—मेरे इस वक्तव्य को पढ़कर सब मुसकराएंगे। ओनासिस से शादी करने की जो वजह आपने सोची थी, यानी मेरा वैभव-प्रेम, सही निकली। ठीक ही तो है ! मैं सुख-सुविधा—आराम क्यों न चाहूं ? क्यों न मेरी इच्छा हो कि हर संभव-असंभव वैभव-संपदा मेरे पैरों में लोटे ? मेरी आदतें हमेशा से खर्चीली थीं—ठीक ही कहा है आलोचकों ने। जब मैं व्हाइट हाउस की फर्स्ट लेडी थी तब भी मेरे वस्त्रों मात्र पर तीन लाख पचहत्तर हजार रुपये प्रतिवर्ष खर्च होते थे। और शायद यह भी ठीक ही कहा है कि अमेरिका से मेरा कोई आत्मिक लगाव नहीं था। मेरी अधिकतर पढ़ाई-लिखाई फ्रांस में हुई, देखा जाए, तो अमेरिका ने मेरे फ्रांसीसी खान-पान को कभी पसंद नहीं किया। फ्रांसीसी वेशभूषा के प्रति

मेरी रुचि की हमेशा आलोचना होती थी और किसी हद तक मुझे 'गद्दार' माना जाता था। मैं नाचना चाहती थी। गाना चाहती थी और अमेरिका ने मुझे वैधव्य के काले कपड़े पहनाकर तपस्या के ऊंचे मंच पर बैठाना चाहा। देवों और दानवों के युद्ध में पहले इस देश ने मेरे पति जॉन की आहुति ली और फिर मेरे देवर बॉबी की। मेरा क्या कसूर कि मेरे धीरज का बांध टूट गया और मैं इस तपस्या की निरर्थकता से घबराकर, अपने 'निज' की रक्षा करने पंख फैलाकर उड़ गई…।

…लेकिन नहीं, भावावेश में कही गई ये बातें सच नहीं हैं। अपने देश से मुझे कोई नाराजगी नहीं। जॉन कैनेडी ने जो महानता मुझे दी, उसे मैंने हमेशा कृतज्ञ होकर स्वीकारा। बिटिया केरोलिन की उदासी भी मेरे मन को बेंध-बेंध जाती थी, मेरे अंतस्तल में जो चारों तरफ के विवाद या, भाग्य की निर्दय चालें जो मैंने सही हैं—उन्होंने मुझसे यह सब अनर्गल कहला दिया।

इन सबमें अगर कोई बात सच है तो सिर्फ इतनी कि मैं राजनीतिक चर्चाओं से ऊब जाती थी। मेरे मित्र जानते हैं कि मुझे शौक है संगीत का, पुस्तकों का, कला-कृतियों का!—न्यूयार्क वाला घर मेरे बनाए अधकचरे किन्तु उत्साही चित्रों से भरा हुआ है।—और मुझे खास तौर से शौक है—अपने बच्चों का, उनके सदा साथ खेलने का, उनके विकास में हाथ बंटाने का। ओनासिस से विवाह के बाद मैं सोचती थी कि अब मैं वह सब कर पाऊंगी और मेरी रूठी बिटिया भी जब मेरी बात समझ लेगी तो जरूर मान जाएगी। हां, एक काम और…बेहद मेरी रुचि का—घूमना, भ्रमण। मैं खूब घूमना चाहती हूं, नये अनुभव पाना चाहती हूं, बिना किसी पति-रूपी पुरुष 'अभिभावक' के ही। पांच वर्षों में मैं आयरलैंड, स्पेन, इटली, स्विट्जरलैंड, हवाई, केरीबियन, कनाडा, ग्रीस, मेक्सिको और कम्बोडिया का भ्रमण कर चुकी थी।

मेरे पति ओनासिस की भी समान रुचियां थीं। वे साधारण व्यक्ति नहीं। उन्होंने अपनी शिक्षा स्वयं अर्जित की, शास्त्रीय ग्रीक का गहरा अध्ययन किया। वे इतिहास के ज्ञाता थे और जो भाषाएं वे अधिकारपूर्वक बोल सकते थे, वे थीं—ग्रीक, तुर्की, अंग्रेजी, स्पेनिश, फ्रेंच और इतालवी। जीवन-यापन पद्धति में कहा जा सकता है कि वे निशाचर थे। मद्यपान के लिए केवल रात सुरक्षित रही और व्यापार हो या विनोद—शाम से शुरू हुई कड़ी, सुबह के चार बजे से पहले कभी ही टूटती होगी। दिन भर एक जर्जर अटैची और लाल रंग की अपाएण्टमेंट बुक लिए वे संसार का भ्रमण करते, पेरिस, ब्यूनस, आयर्स, मॉन्टे विडाओ, मॉन्टे कार्लो और न्यूयार्क में उनके महल थे और उन्होंने ओलम्पिक एयरवेज के चार्टर अधिकार सन् २००४ तक के लिए ग्रीक सरकार से लिए हुए थे। उनकी सम्पत्ति होटलों, बैंकों और बंदरगाहों में बंधी हुई थी, परंतु अकेला तेल का कारोबार पर्याप्त आमदनी का साधन था। स्व-विवेचन के एक किसी क्षण में उन्होंने एक बार अपने को

मजदूर कहा था, "मैं तो एक कुली हूं तेल ढोने वाला, यहां से वहां।"

क्या उनके इस बयान से आपको नहीं लगता कि वे कोमल-हृदय और भावुक व्यक्ति थे ? लॉर्ड मार्गन ने चर्चिल की जीवनी में ओनासिस का जिक्र करते हुए कहा है, "उनका सिद्धांत था कि अपने निकटतम संबंधी को भी त्याग देना चाहिए —यदि उससे कोई लाभ नहीं उठाया जा सकता," मुझे उनके चरित्र में ऐसा कुछ कभी नहीं दिखा। मैं दूसरे की कही बात को अपने अनुभव से अधिक महत्त्व क्यों दूं ?

कुछ लोगों ने मनोवैज्ञानिक पहलू से इस रिश्ते को पढ़ने की कोशिश की, वे कहते थे कि मैं अपने पिता से बेहद प्यार करती थी और वे मेरे आदर्श थे। उनकी मृत्यु पर मैंने जो कहा, उसे भी कई जगह उद्धृत किया गया—'ऐसा छा जाने वाला व्यक्तित्व दूसरा नहीं हो सकता।' 'जैकलिन' ने ओनासिस में पिता की प्रतिच्छवि ढूंढ़ी है। मैं क्या कहूं ! मैं कोई मनोविशेषज्ञ नहीं—एक सामान्य व्यक्ति की हैसियत से इस व्याख्या पर केवल मुसकरा सकती हूं।

मेधावी ग्रीक सोचते थे कि हमारी शादी के बाद सैनिक-विद्रोह से भयभीत जनता राहत व संतुलन पाएगीऔर ग्रीस का पर्यटन-व्यापार फिर से अंगड़ाई लेकर जाग उठेगा। ये सारे कुलावे उतने ही बचकाने और असभ्य थे जितना कुछ 'दूर-दर्शियों' का यह कहना कि वह विवाह मैंने इसलिए किया कि सन् १९८३ में मेरा बेटा जॉन अमेरिका के राष्ट्रपति पद के लिए खड़ा होगा और चुनाव में ओनासिस की अपार धनराशि पानी की तरह बहा सकेगा।

मैंने जितना ही इन सवालों-जवाबों, आरोपों-आक्षेपों से बचना चाहा, उतना ही मुझे इनका शिकार बनना पड़ा। ओनासिस के साथ अभी पांच वर्ष भी नहीं बीत पाए थे कि वे इन अजीबोगरीब दखल अंदाजियों-भरी दुनिया छोड़कर स्कार्पियोस टापू पर अपने पुत्र की कब्र की बगल में हमेशा के लिए सो गए। उनके आंखें मूंदने के साथ ही अखबारों की क्रूर जिज्ञासा एक नई दिशा में आंखें खोलकर खड़ी हो गई।

सम्पत्ति, बेशुमार धनदौलत, वसीयत! एक बेहूदा रस्साकशी का अक्स समाचारपत्रों में उतरने लगा। एक तरफ ओनासिस के वारिस, दूसरी ओर जॉन कैनेडी की संतानें और उनके बीच खड़ी खिचती मैं। खिचती नहीं, खींची जाती हुई। बार-बार ओनासिस परिवार के 'हितैषी' अखबारों के माध्यम से मुझे संकेत देते जान पड़ते कि मैं एक लंबी-चौड़ी वार्षिक अनुदान-रकम के बदले जायदाद के सारे अधिकार छोड़ दूं। उनके लिए मैं हमेशा 'बाहर का व्यक्ति' रही। उनके अनुसार मैंने ओनासिस को अपना रूप और यौवन बेचा था। अमेरिका के राष्ट्रपति की पत्नी रहने के नाते एक विचित्र आकर्षण कुख्याति ओनासिस को दिलाने का सौदा किया था—अब मैं उसकी भरपूर कीमत ले लूं और खानदान की गरिमा के सूर्य पर

लगे ग्रहण की तरह हट जाऊं।

जिन्होंने मुझे हमेशा सिर्फ एक खर्चीली आदतों वाली, दिलफेंक मोम की गुड़िया समझा है, उनके अनुसार मेरी विध्वंस-कहानी अभी खत्म नहीं हुई है। मैं जानती हूं कि जब तक मेरा चेहरा झुर्रियों से भर नहीं जाएगा मेरे केश सन की तरह सफेद नहीं पड़ जाएंगे, मेरी कमर झुक नहीं जाएगी—दुनिया को तसल्ली नहीं होगी। मेरा नाम न जाने कितनों के साथ अभी जोड़ा जाएगा। मेरे मातृत्व को कितनी ही बार धिक्कारा जाएगा—मेरे रूप को सर्प का दंश बताया जाएगा।

इस संसार ने न जाने कितने प्रश्नों की बौछार मुझपर की है। अब मैं भी बस एक बार एक प्रश्न इससे करने का मौका चाहती हूं। हानि-लाभ के अंदाजे नैतिकता के ऊहापोह, विज्ञापन और चर्चाएं। दृष्टिकोण-वक्तव्य—ये सब क्या वाजिब है? मेरा अपराध यही है न कि मुझमें एक असाधारण आकर्षण है जिसने दुनिया के दो चोटी के असाधारण पुरुषों को मंत्रमुग्ध कर लिया, क्या इसीसे हर एक को यह अधिकार मिल गया कि वे मेरी जिन्दगी की अंतरंग बखिया सरे-बाजार उधेड़ते रहें? मेरी नितांत निजी हर भावना की व्याख्या और शव-परीक्षा कर डालें? क्या वे कभी नहीं समझेंगे कि मैं एक व्यक्तिगत इकाई हूं, जिसके जीवन की शांति विज्ञप्तियों के अभिशाप से दूर रह पाने में है…!

फ़ेरर का प्रस्थान : आंसू या मुसकान ?

स्पेन के विस्सेण्ट फ़ेरर, सन् १९५२ में भारत आए। सन् १९५८ में उन्हें मनमाड का पादरी नियुक्त किया गया। इस पादरी ने उपासना का प्रमुख माध्यम बनाया—सेवा-कार्य। सेवा का क्षेत्र था—वहां के किसान। फादर फ़ेरर ने किसानों की सहायता रुपये-पैसे से ही नहीं की, स्वयं भी वे चोगा उतार, बुश्शर्ट-पैण्ट पहन उनके काम में हाथ बटाते दिखाई देते थे। नतीजा : मनमाड के खेत लहलहाने लगे, फी एकड़ पैदावार बढ़ी और किसान ने ऋण के बोझ से राहत पाई।

अपनी सेवा और सहज प्रकृति से उन्होंने किसानों का दिल जीत लिया। एक रात जब वे मनमाड-बम्बई-मार्ग स्थित एक छोटे-से पड़ाव पर बैठे अपना टिफिन खोल ही रहे थे, उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति मुट्ठी-भर चिवड़े से अपनी क्षुधा शांत करने का प्रयत्न कर रहा है। उनका दिल पिघल गया और तत्काल उन्होंने उस व्यक्ति को अपने खाने में भागीदार बना लिया। दया और सहृदयता की अनेक कहानियां इस व्यक्तित्व के साथ जुड़ती चली गईं।

उन्होंने बच्चों के लिए बोर्डिंग स्कूल की स्थापना की जिसकी गिनती महाराष्ट्र के बड़े स्कूलों में है। फिर उन्होंने दो हाईस्कूलों की भी स्थापना की जिनमें १५०० लड़के-लड़कियां अध्ययन कर रहे हैं। इनमें ८०० छात्रों के रहने का भी प्रबन्ध है और ये बच्चे केवल १० रुपये देकर शिक्षा आदि पाते हैं।

उन्होंने एक मेडिकल यूनिट जारी किया जिसने बाद में एक डिस्पेंसरी के रूप में ग्रामीणों की सेवा की और फिर वह ५५ चारपाई वाला अस्पताल बन गया जहां इनके अतिरिक्त प्रतिदिन २०० बाहर के मरीजों की दवा-दारू व देख-रेख का प्रबन्ध किया गया।

पादरी फ़ेरर ने १९६६ की सूखा-ग्रस्त जनता की सहायतार्थ क्षेत्रकारी 'सेवा

मण्डल' की स्थापना की। मण्डल ने इस काम के लिए ५०,००० रुपये इकट्ठे किए और ६८६ गांवों में १०७३ कुएं खोदे, ७८२ नल लगाए, ११४ ट्यूबवेल गाड़े तथा ४५६२ टन खाद और ५००० क्विटलबीज बांटे। इसके अतिरिक्त ४१ मील लम्बी सड़क से तीन ताल्लुकों के १० स्थानों को जोड़ा।

और दो साल की इस लगातार सेवा के बाद भगवान पादरी से रुष्ट हो गए। अप्रैल, १९६७ में महाराष्ट्र सरकार ने उन्हें देश छोड़ने का आदेश दिया जिसमें न तो कोई दोषारोपण था और न ही शिकवे का कारण। पादरी की भारतीय नागरिकता अपनाने की अपील भी अनसुनी कर दी गई।

फादर फेरर पर इलजाम लगाया गया कि उन्होंने हिन्दुस्तान का धर्म बदला है। फेरर ने चुनौती दी कि अगर एक भी हिन्दू या मुसलमान यह कह भर दे कि उसने मेरे कारण ईसाई धर्म अपनाया है तो मैं उसी वक्त अपना बिस्तर-अटैची उठा भारत छोड़कर चला जाऊंगा।

वैसे ईसाई धर्म से सम्बन्धित संस्थाओं से हमें कोई खास एतराज नहीं रहा है। उस समय के दिल्ली के मिशनरी स्कूलों की ही एक झांकी लें। उनकी संख्या आठ थी। इनमें कुल विद्यार्थी १२,४३१ थे जिनमें से १५३० ईसाई थे। बाकी ८७.७ प्रतिशत में से अधिकतर हिन्दू थे। छात्रों में शामिल थे भारत के राष्ट्रपति, स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री उपराष्ट्रपति, दिल्ली के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर और कम-से-कम आठ केन्द्रीय मन्त्रियों के बेटे-पोते। संसद-सदस्य, राज्याधिकारी और मिलिटरी के उच्च पदाधिकारियों के कॉन्वेण्ट-शिक्षार्थी बच्चों की संख्या हजारों में पहुंचती थी। खैर, यह दूसरी बात है।

फादर फ़ेरर पर दोष लगाया गया कि मनमाड़ पंचायत चुनाव में उन्होंने कुछ ज्यादा ही दिलचस्पी दिखाई और अपने लिए राजनीतिक क्षेत्र पैदा करने की कोशिश की। उनके 'क्षेत्रकारी सेवा-मण्डल' का किसी भी प्रकार का सम्बन्ध जिला विकास कार्यालय से नहीं है, इस तथ्य को लेकर उनपर समानान्तर सरकार चलाने का दोषारोपण किया गया।

इन इलजामों के जवाब में पादरी ने बस यही कहा कि उनकी कोई समानान्तर सरकार नहीं है। उन्होंने तो सिर्फ कुएं खुदवाने और सड़कें बनाने का समानान्तर कार्य किया है। उन्होंने यह भी कहा कि इन दोषों की उचित और खुली छानबीन होनी चाहिए और छानबीन के फलस्वरूप कोई तथ्य मिलता है तो वे कानून के हाथों अपने को सौंपने को तैयार हैं।

यह भी चर्चा हुई कि फादर फेरर की गतिविधियों के पीछे किसी विदेशी सत्ता और पैसों का हाथ है। यह मानना कि इतना धन वह 'गुप्त शक्ति' केवल मुट्ठी भर विदेशी किसानों की भलाई में लगा रही है, बचपना होगा। पादरी तक धन के पहुंचने के साधनों की ओर भी संकेत किए गए।

पादरी का उत्तर संक्षिप्त था कि उन्होंने किसी अवैध पैसे का उपयोग नहीं किया है। जो भी पैसा उन्हें वाहर से मिला, वह विदेशी-मुद्रा के रूप में रिजर्व वैंक ऑफ इंडिया को मिला जिसे वैंक ने पादरी को रुपयों में अदा किया।

वैसे 'मण्डल' की जमा पूंजी जो आज ७६ लाख से ऊपर है, जरा समझ लें, कहां से एकत्र हुई है। स्थानीय किसानों का योगदान ८ लाख, कैथलिक रिलीफ सर्विसेज ३८ लाख, भारत-जर्मन सोशल सर्विस सोसायटी १८ लाख और भारतीय कैथलिक सेवाओं द्वारा १० लाख। इनके अतिरिक्त स्पेन, पश्चिम जर्मनी और भारत के अन्य संस्थानों ने भी अपना योगदान दिया है।

यों तो सव वहुत स्पष्ट और सीधा! किन्तु फादर फ़ेरर के विरोधी भी अपने को 'धर्म' के अनेक रूपों और तहों का माहिर समझते हैं। 'उदारता' पर संदेह करना आज के युग में न तो क्षुद्रता है और न ही अनैतिकता; वल्कि अकसर कूट-नीति इसे आवश्यक वना देती है।

हवा दोषारोपण से वोझिल हो गई। फ़ेरर की सफाइयां भी वातावरण में मंडराती रहीं किन्तु भारत सरकार ने खुले में आकर न अपनी छानवीन के नतीजे जनता के सामने रखे, न ही कोई मुकदमा चलाया। या कि कहें—किसी कारण-वश स्पष्टीकरण करना भी ठीक नहीं समझा।

माना कि सरकार की अपनी जिम्मेदारियां और फैसले हैं लेकिन संसार के सबसे वड़े गणतंत्र में क्या जनता को यह जानने का भी अधिकार नहीं कि वर्षों तक प्रतिष्ठा पाते एक गण्यमान्य सुधारक को यों क्यों खदेड़ा गया? क्या कम-से-कम उस किसान को भी यह समझने का हक नहीं कि उसके 'प्यारे मसीहा' ने कौन-सा देशघाती अपराध कर डाला?

और अव जनता की अस्थिरता व अस्तित्वहीनता का एक रोचक नमूना! फादर फ़ेरर के देश-निष्कासन आदेश के बाद मनमाड में अपार जनता की वड़ी हड़ताल होती है कि फ़ेरर को देश से क्यों निकाला जा रहा है?

और जव उन्हें सिर्फ दो माह और भारत में रहने की छूट दी जाती है तो फिर अपार जनता की एक वड़ी हड़ताल होती है कि उन्हें देश में क्यों रहने दिया जा रहा है?

इन दो अप्रैलों के वीच क्या घट गया कि फादर फ़ेरर हमारे लिए हौवा वन गए? पी० टी० आई० का यह समाचार शायद हमारी इस गुत्थी को सुलझाने में मदद करे:

'नई दिल्ली: मई ३, १९६८। तीन संसद-सदस्यों ने प्रधानमन्त्री से अनुरोध किया है कि वे फादर फ़ेरर समस्या पर 'गुप्त और स्वच्छन्द' जांच करें ताकि शिव सेना इस जांच को दूषित न कर पाए।'

अन्ततः उनको २६ जून, १९६८ को भारत छोड़ने का आदेश दे दिया गया।

मण्डल' के गोदामों में ६८१ बारूद के विस्फोटक और २५८ किलो जिलेटीन की मौजूदगी ने इस तिथि पर मानो मुहर लगा दी। ये दोनों ही वस्तुएं कुआं खोदने के काम आती हैं। सरकार इस सामग्री के 'पकड़े जाने' पर आश्चर्य व रोष प्रकट करती है। फादर फेरर लाइसेंस दिखाकर अपनी मासूमियत की गवाही पेश करते हैं। साथ ही यह भी कहते हैं कि "यदि मेरा कृत्य गैरकानूनी था तो कोई पुलिस-केस मुझपर क्यों नहीं हुआ?"

फिर सरकार बयान देती है कि यह सामान नासिक से बरामद किया गया और फादर बयान देते हैं कि वह नियमानुसार मनमाड के एक गोला-बारूद गोदाम में सुरक्षित है न कि नासिक में।

समाचारपत्र सब बयान छापकर बेबाकी से अलग खड़े हो जाते हैं और नागरिक असमंजस में त्रिशंकु बना लटकता रहता है।

खैर, यदि फ़ेरर देश की सुरक्षा में बाधक थे तो अब उन्हें इस देश से बाहर कर दिया गया है। कहानी खत्म हो चुकी है। कुछ ने सरकार की [illegible] और एक सदाशय व्यक्ति पर किए 'अत्याचार' की कड़ी भर्त्सना की। [illegible] 'मजबूत हाथ से एक ही झटके में कांटा उखाड़ फेंकने' वाले शासन की [illegible] किन्तु दोनों ही पक्षों के मुंह खुले रह गए जब फादर फेरर के [illegible] ओर ही अब तक मौन केन्द्रीय सरकार ने देववाणी की और कहा कि [illegible] फेरर फिर भारत आना चाहें तो महाराष्ट्र के अतिरिक्त किसी भी राज्य के [illegible] वसन के लिए उनका स्वागत है।

यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बनाए रखने की नौसिखिया [illegible] बेहद गहरी 'चाणक्यीय' चाल या मानवतावादी, मनोवैज्ञानिक [illegible] बताए?

अभी तो मैं जवान हूं

आकाशवाणी की पचासवीं वर्षगांठ पर अनेक कलाकार दिल्ली आए। इनमें से एक थीं, पाकिस्तान से आने वाली प्रसिद्ध गायिका—मलिका पुखराज। अपनी आदत के खिलाफ, उनसे मिलने की अदम्य इच्छा से प्रेरित मैं सीधे जनपथ होटल जा पहुंची जहां वे अपनी छोटी पुत्रवधू के साथ ठहरी हुई थीं। वहां अमृता प्रीतम भी उनसे मिलने आई हुई थीं। अमृताजी ने बड़े प्रेम से मेरा परिचय मलिका पुखराज से करवाया। मैंने कहा, शुक्र है कि आप यहां थीं वर्ना मैं क्या बताती कि मैं कौन हूं···मलिका पुखराज मुस्कराकर बोलीं, "नहीं, समझ तो मैं जाती ही, बस दो मिनट की देर और लगती।"

पलक झपकते ही वातावरण में आत्मीयता भर गई। क्या मालूम था कि दो दिन बाद ही मेरी उनसे दूरदर्शन पर भी मुलाकात होगी! वही भेंट यहां प्रस्तुत है :

इन्दु जैन : दूरदर्शन 'पत्रिका' का यह नियम रहा है कि वह कला-निधि में पैठ कर आबदार मोती इकट्ठे करती रहती है। आज जिस बहुमूल्य पुखराज को हम आपके सामने प्रस्तुत कर रहे हैं, वह लगभग चालीस साल से संगीत-प्रेमियों की आंखों को चौंधियाता रहा है, रास्ता दिखाता रहा है। बेगम मलिका पुखराज की सोजभरी आवाज तो पाकिस्तान की सरहदों के आर-पार गूंजती ही रही है, आज पत्रिका का सौभाग्य है कि इस आवाज की मलिका खुद हमारे स्टुडियो में मौजूद हैं, इस पार आई हैं।

मलिका पुखराज साहिबा ! तकरीबन तीस साल बाद आप हिन्दुस्तान तशरीफ लाई हैं और यहां बेहिसाब आपके दीवाने हैं। एक तो मैं खुद ही बैठी हूं।

मलिका पुखराज : अगर आप दीवानी होतीं तो मेरा ख्याल है, यहां नहीं होतीं।

इन्दु जैन : जमाना बदल गया है। पहले तो दीवानों को दरवाजे के बाहर रखा जाता था। और अब देखिए, बराबर में बिठाया जाता है। खुशकिस्मती है हमारी। कैसा लग रहा है आपको भारत में ?

मलिका पुखराज : बहुत अच्छा···बड़ा प्यार···सबसे अच्छी चीज है प्यार···सो वह हमें यहां मिल रहा है। बहुत मजा है···प्यार से तो सारी दुनिया कायम है···।

इन्दु जैन : वैसे भी आप तो परायी कहां हैं : जम्मू की पैदाइश है आपकी। तालीम भी यहीं हुई है। हमें तो आपको मेहमान कहने की भी तबीयत नहीं होती। आप इतनी अपने करीब की हैं···इतने पास की हैं···।

मलिका पुखराज : खैर···, जो सही चीज है, उसे तो आप इग्नोर कर ही नहीं सकतीं। मेहमान तो हम हैं ही। यह ख्वाहिश है मेरी कि आप भी कभी मेहमान बनकर हमारे लाहौर में आएं।

इन्दु जैन : शुक्रिया ! अच्छा···बहुत दूर, सालों के सफर में चलकर क्या आप बता सकती हैं कि आपको सबसे पहले किससे इश्क हुआ ? मेरा मतलब है, शायरी से या मौसीकी से ?

मलिका पुखराज : मौसीकी से।

इन्दु जैन : क्या आपने खानदान से विरासत में पाया है इसे ?

मलिका पुखराज : नहीं···।

इन्दु जैन : कैसे फिर···?

मलिका पुखराज : बस···,बचपन में तो जाहिर है कि कोई भी चीज आप सिखाना चाहेंगे तो बच्चा अपनी मर्जी से कुछ भी नहीं सीखता। तो बचपन में तो मां-बाप की वजह से, उन्होंने सिखाया और जिस वक्त खुद शऊर हुआ तो फिर अपने-आपको शौक हुआ···।

इन्दु जैन : हां, मैंने कहीं पढ़ा था कि आपके पति ने भी आपकी इसमें बहुत मदद की···।

मलिका पुखराज : हां···बहुत···उनको भी गाने से इश्क था। यानी खुद नहीं गा सकते थे मगर सुनने से इश्क था।

इन्दु जैन : आप कहती हैं, मौसीकी से पहले प्यार हुआ तो हम माने लेते हैं। लेकिन मुझे लगता है कि गजल को जो चुनता है गाने के के लिए, उसे शायरी से तो प्यार होना ही चाहिए।

यू क्योंकि होते हुए भी यहा (पाकिस्तान मे) उर्दू बहुत रायज है। इसलिए हमारी तरफ तो हर एक को समझ मे आता है। भारत का अब पता नही···शायद सुनने वाले बदल गए हों।

इन्दु जैन : वैसे आपको क्या चीज गाने मे हमेशा ज्यादा लुत्फ आता था ?

मलिका पुखराज : जाहिर है कि गाने मे तो उसी चीज का मजा है जो दूसरो को पसंद आए। क्योंकि अगर महज अपने लिए गाना है तो इंसान दरवाजे वगैरह बन्द करके अकेला गाएगा। आईने के सामने बैठकर गाएगा। गाता तो इंसान इसीलिए है कि दूसरों को पसंद आए···।

इन्दु जैन : मुझे अच्छी तरह याद है कि हमने आपसे वादा किया था कि हम आपको गाने के लिए नही कहेंगे। यह भी मुझे मालूम है कि आजकल आपका गला खराब है लेकिन क्या बेहद ज्यादती नही हो जाएगी हमारे हजारों दर्शको पर कि बेगम मलिका पुखराज यहा मौजूद हों और गुनगुनाए तक नही ? अगर आप फैज साहब की गजल की सिर्फ दो लाइनें गुनगुना दें तो मैं आपको ज्यादा तकलीफ नही दूगी, आगे रिकार्ड सुनवा दूगी··· (कौन-सी ?) कब ठहरेगा दर्द-ए-दिल···

मलिका पुखराज : (गाती है) कब ठहरेगा दर्द-ए-दिल कब रात बसर होगी
सुनते थे वो आएंगे, सुनते थे सहर होगी
कब जान लहू होगी, कब अश्क गौहर होगा
किस दिन तेरी सुनवाई-ए-दीद-ए-तर होगी

इन्दु जैन : वाह, वाह ! मैं कितना आपका शुक्रिया अदा करूं आपने मेरी बात रख ली। गुनगुना दिया···।

मलिका पुखराज नही, नही, मेरी हिम्मत होती तो मैं पूरी गजल सुना देती।

इन्दु जैन : क्या बात है ! कब जान लहू होगी···कब अश्क गौहर होगा ···वाह···ऐसी खूबसूरत गजल और इतनी प्यारी गाई गई···।

मलिका पुखराज : और मैंने भी शायद इसे तीस साल के बाद सुना है।

इन्दु जैन · सचमुच ?

मलिका पुखराज सचमुच ! मैं तो इसके पूरे अल्फाज तक भूल गई हूं।

इन्दु जैन : मौसीकी की बारीकियो के बारे मे अगर मैं कुछ कहू तो छोटे मुह बडी बात होगी। मैंने जैसा कहा कि हम तो बस पसंद करने वालो में से हैं। इसलिए आज यहा पर दावत दी है

हफ़ीज अहमद साहब को कि मौसीकी के बारे में आपसे कुछ पूछें।

हफ़ीज अहमद : इससे पहले कि मैं कुछ सवाल आपकी खिदमत में पेश करूं, मैं यह बता देना मुनासिब समझता हूं कि इन्दुजी ने जिस खूब-सूरती से आपसे सवालात पूछे हैं या आपसे जो चीजें दरयाफ्त की हैं···मैं खुद इससे हैरत में हूं कि इसके अलावा या इसके आगे मैं क्या आपसे पूछ सकूंगा ? फिर भी मैं कोशिश करूंगा···।

मलिका पुखराज : आप तो कसरे नफसी पर उतर आए हैं।

हफ़ीज अहमद : जी नहीं, ऐसी बात नहीं है क्योंकि वे सवालात या इन्दुजी का जो मकसद था, वे सब ऐसे हैं और आपके जवाबात भी ऐसे थे कि अब···खैर, कोशिश करूंगा···।

मलिका पुखराज : जरूर कीजिए कोशिश···।

हफ़ीज अहमद : सबसे पहली चीज यह है कि जिस अंदाज में आप गजलें गाती हैं, उसका आधार प्योरक्लासिकल म्यूजिक पर है। तो जाहिर है, आपने क्लासिकल मौसीकी की तालीम हासिल की होगी। इस सिलसिले में आप फरमाइए कि आपने किन-किन उस्तादों से सीखा ?

मलिका पुखराज : मैंने अली बख्श···जो बड़े गुलाम अली के वालिद साहब थे··· उनसे सीखा, फिर खां साहब अख्तर हुसैन, पटियाला वाले, फिर आशिक अली, फिर मौला बख्श। उसके बाद और भी अगर कहीं से मुझे कोई चीज हासिल हो सकती थी तो मैं सीखती थी। इसके लिए मैंने कभी शर्म महसूस नहीं की कि मैं ये सीखूं और ये नहीं सीखूं। जो भी मुझे कोई अच्छी चीज लगी, मैं सीखती हूं और गाना तो आप सारी उम्र···यानी आप सीखते रहेंगे तो आपको हासिल होता रहेगा।

अफीज अहमद : जी हां ! इस सिलसिले में आप यह फरमाइए कि जिन-जिन उस्तादों का आपने नाम लिया है, उनसे आपने कुछ बंदिशें सीखी होंगी, कुछ रचनाएं सीखी होंगी—लेकिन शुरू की तालीम आपकी किस ढंग की रही है ? बिलकुल इब्तदायी तालीम ?

मलिका पुखराज : इब्तदायी तालीम तो यही सरगम से शुरू हुई थी। सरगम, पल्टे···सिर्फ आवाज में गाना जैसे आ···आ···सा···। क्योंकि 'सा' का ये रियाज जो पकेगा आपका तो फिर कई और चीजें

गाई जाएंगी, बात बनेगी।

हफीज अहमद : यह बयान भी आपका इन्तहाई हसीन है। लोग कहते हैं कि सात सुर मुश्किल हैं लेकिन आपके दिमाग में 'सा' ही मुश्किल है और अगर 'सा' पर काबू हो जाए तो मानो सुर बल्कि जो बारह सुर हैं, उन सबपर कुदरत हासिल हो जाएगी। क्या खयाल की तालीम भी आपने हासिल की?

मलिका पुखराज : हां, खयाल की भी जरूर की, बल्कि ध्रुपद की भी। एक नियाज हुसैन शामी होते थे, उनको बहुत अच्छी, बहुत ही अच्छी ध्रुपदें याद थीं, ध्रुपद और टप्पे। तो, ये भी मैंने उनसे सीखे।

हफीज अहमद : टप्पे...जो क्लासिकल अंदाज में हैं शौरी मियां? वो भी आप गाती थीं?

मलिका पुखराज : हां, उन्हें ज्यादा मैंने नहीं गाया मगर सीखे मैंने उनसे जरूर हैं।

हफीज अहमद : यहां पर लखनऊ और बनारस हमारे सेंटर हैं जहां पर इनका जोर रहा है।

मलिका पुखराज : जी हां, बड़ी मोती बाई को कौन भूल सकता है?

हफीज अहमद : वाकई टप्पा एक ऐसी चीज है जिससे गले का एक बहुत ही खूबसूरत सांचा बन जाता है और उसके बाद में कोई भी गायकी या कोई भी गायन शैली हो...आर्टिस्ट उसे आसानी से अदा कर सकता है। गजल के सिलसिले में मैं आपसे यह अर्ज करना चाहता था कि कुछ बहरें होती हैं जो कि बहुत लंबी यानी बहरे-तवील होती हैं और कुछ बहुत ही मुख्तसर—छोटी। आप जब खुद तर्जें बनाती थीं तो इन बहरों में से इन्तेखाब ज्यादा किसका करती थीं?

मलिका पुखराज : मैं कभी इस चीज पर ज्यादा ध्यान नहीं देती थी। बल्कि मैं तो सिर्फ इसका खयाल रखती थी कि गजल कौन-सी अच्छी है। उसे लफ्जे-एतबार से चुनती थी और फिर उसके बाद ताल सोच लेती थी। अगर बहुत लंबी हो तो भी और छोटी हो तो भी। जौहरा बाई आगरे वाली ने झपताल तक में गजल गाई है।

इन्दु जैन : जी, मैं बीच में एक बात पूछ सकती हूं?

मलिका पुखराज : जी हां, जी हां, जरूर।

इन्दु जैन : आपकी छोटी बेटी ताहिरा गाती हैं। उनको तो आपने पकड़ ही लिया है कि गाना सीखना पड़ेगा। उनको आप ये सब चीजें

सिखा रही हैं ?

मलिका पुखराज : जी नहीं, अभी नहीं। अभी उसने ऐसे नहीं सीखा। उम्मीद है कि अब उसको भी शऊर आया है और इंशा अल्लाह, मुझे उम्मीद है कि वह भी सीखेगी।

इन्दु जैन : हफीज साहब, आपको और एक बात बताएं ? एक राज़ खोलें ? आप यह न समझिए कि मलिका साहेबा सिर्फ गजल ही गाती हैं। इनकी जब उंगलियां चलती हैं न, तब भी एक करिश्मा पैदा होता है।

हफीज अहमद : क्या है साहब वो राज़ ?

इन्दु जैन : यह जो कालीन हमारे पीछे टंगा हुआ है, इसे आपने ही कढ़ाई करके बनाया है और इनकी धागों से बनाई तस्वीरें तो देखिए ! लगता है, बिलकुल पेंटिंग्स हैं। ज़रा हमें इनके बारे में भी तो बताइए कि यह शौक आपको कैसे हो गया ?

मलिका पुखराज : बस कुछ ये समझ लीजिए कि ये चीज भी मुश्किल थी करनी तो इसीलिए इसमें भी कदम रख दिया। एक-एक तस्वीर को साल-साल, दो-दो साल लग जाते थे बनाने में। स्टिच-दर-स्टिच बनाते चले जाओ…।

इन्दु जैन : माफ कीजिएगा, एक बहुत ही औरताना सवाल पूछूं ?

मलिका पुखराज : यह 'औरताना' लफ्ज पहली दफा सुना है। मर्दाना तो सुना था मगर 'औरताना' पहली दफा सुना है। (हंसी)

इन्दु जैन : कौन-सा स्टिच लगाती हैं इसमें आप ? यह शायद ख़ास स्टिच है…?

मलिका पुखराज : नहीं, ख़ास स्टिच तो ये नहीं है। इसको नीडल पायण्ट या पता नहीं कुछ ऐसा ही कहते हैं। ये जो ताहिरा की तस्वीर देख रही हैं न ? उसमें देखिए, ये कमाल है कि दुपट्टे के नीचे आपको कुर्ते में लगा ब्रेड नजर आएगा। और ये चीजें फॉर ऐवर हैं। कभी इनके रंग खराब नहीं होंगे, मैली हो जाएं तो आप साबुन से धो लें। सूत की बनी हैं इसलिए सदियों तक इसका न रंग फैड होगा, न इसको कीड़ा खाएगा।

इन्दु जैन : बड़ी गहरी बात कही है। सूत की बनी है—इसलिए। मिट्टी से जो चीज पैदा होती है, जो जितनी पास हो जमीन के वह उतनी ही पाएदार है।

हफीज अहमद : मैं तो ये कहूंगा कि ये जितनी पेंटिंग्ज हैं, उनमें तो सुरों के रंगों के उतार-चढ़ाव मुझे दीखते हैं।

इन्दु जैन : एक बात बिलकुल अलग हटकर पूछूं ? यो ही एक सवाल दिमाग मे आ गया है कि जिन्दगी का सबसे बड़ा सुकून, सबसे बड़ी खुशी आपके लिए क्या है ?

मलिका पुखराज : यही है कि अगर आपको अल्लाह ने दुनिया मे भेजा है तो आप कुछ-न-कुछ ऐसी चीजें करें कि जिससे आपको लोग कम-से-कम कुछ अर्सा तो बाद मे जिंदा रक्खें।

इन्दु जैन : आप यहां बैठी हैं और मेरे दिमाग मे न जाने क्या-क्या बातें आ रही हैं···। मान लीजिए कि जिन्दगी का फरिश्ता आपके सामने आकर खड़ा हो जाए और कहे कि माग ले जो मागती है, तो कौन-सी ख्वाहिश पूरी करना चाहेगी ?

मलिका पुखराज : यही कि बस···अल्लाह मियां, मुझे इतना कुछ दे दे कि जिससे दुनिया वाले देख-देखकर कहें कि आहा···यह बात आपने कमाल की की है। दूसरा नही गा सकता था। दूसरा नही कर सकता, आप ही कर सकती है···।

इन्दु जैन : किया है आपने यह···ऐसा ही कमाल पैदा किया है आपने। अच्छा, एक बात बताइए कि बहुत-सी जो अच्छी गजलें हैं, वे मुख्तलिफ लोगों ने अदा की है अपने-अपने ढंग से। थोड़ा गुस्ताख सवाल पूछ लू ? (जी···) कोई ऐसी गजल है जो आपको लगता है कि आपसे ज्यादा अच्छी किसी दूसरे ने गाई है ?

मलिका पुखराज : मैंने ये तजाज्जुम कभी किया नही।

इन्दु जैन मेरा मतलब था पूछने का कि क्या आपको कोई पसद है बहुत ज्यादा ?

मलिका पुखराज . हा, मैं यही कह रही हू कि मैंने कभी ऐसा सोचा ही नही कि मैंने इससे अच्छी गाई है या···मैं तो समझती हू कि मुझे गाना आता ही नही। नही, वाकई मैं ईमानदारी से कह रही हू। झूठ नही कहती। मैं अपने-आपको गायक समझती ही नही। ये तो सिर्फ आप लोगो की मेहरबानी है, आपका प्यार है कि आप यह समझती हैं कि मुझे बड़ा अच्छा गाना आता है और आपको मेरी आवाज पसद है। यह तो कुदरत की बात है। आप पूछती है—अच्छा कौन लगता है ? ···अच्छा गाना कौन-सा है ? जो भी हो—अच्छा वह गाना, जिसका दिल पे असर हो···।

इन्दु जैन बात यही है। और इसलिए जो आप फरिश्ते से मागती हैं, वह आपको मिल जाएगा क्योंकि आपकी सोजभरी आवाज हमेशा

जिंदा रहेगी। उसका दिल पर असर जिंदा रहेगा। और इसके साथ जिंदा रहेगा हफीज जालंधरी का वह नग्मा, जो आपने गाया है :

"अभी तो मैं जवान हूं···
···वो राग छेड़ मुतरिबा
तरब ख़ज़ा अलम रुबा
असर सदाए साज़ का
जिगर में आग दे लगा

हरेक लब पे हो सदा——
न हाथ रोक साक़िया
पिलाए जा पिलाए जा
पिलाए जा पिलाए जा
अभी तो मैं जवान हूं···"

३६५ दिन की सुल्ताना के पांसे

१८ नवम्बर

बम्बई-निवासी, मोहक, कत्थई आंखों वाली गोआ की सुन्दरी, मिस रीता फारिया, जो डॉक्टरी की शिक्षा पूरी करके स्त्री-रोगों की विशेषज्ञ बनना चाहती है, कल लन्दन के लीसम थियेटर में विश्व-सुन्दरी पद से विभूषित की गई। *उन्होंने लगभग पचास प्रतिस्पर्द्धियों को हराकर यह पद पाया।*

फारिया की विजय ने लन्दन के सभी लोकप्रिय अखबारों में पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब खां के लन्दन पधारने की खबर को अन्दरूनी पन्नों पर ढकेल दिया।

फारिया के कथनानुसार, उनकी शादी जून में ओसबोर्न लोबो से होगी जो पश्चिम-बंगाल के किसी चाय बागान में व्यवस्थापक हैं।

२० नवम्बर (डायरी का एक पन्ना)

"मुझे लगता है कि इस समय पढ़ाई में मन लगाना और सारी दुनिया की सैर के इस मौके का फायदा उठाना दोनों काम एकसाथ कर पाने कठिन होंगे।

जब मैंने अपने मंगेतर से सौन्दर्य-प्रतियोगिता की बात की थी तो वे हंस दिए थे। वे अब भी, जरूर, हंस ही रहे होंगे।

मेरा इरादा लगभग एक सप्ताह बाद भारत लौट आने का है।"

—फारिया

२८ नवम्बर

फारिया ने दक्षिण वियतनाम जाने का इरादा रद्द करते हुए कहा कि "भारतीय उच्चायुक्त जीवराज मेहता ने मुझे बताया कि भारत सरकार वियतनाम-युद्ध

के विरुद्ध है और वे स्वयं भी मेरे वहां जाने के विचार से खुश नहीं हैं।"

२९ नवम्बर

एक अमेरिकी संवाददाता के पूछने पर कि क्या उनके कहने का तात्पर्य है कि व्यक्तिगत भारतीयों के वियतनाम जाने पर भी पावन्दी है, विदेश-मन्त्री श्री छागला ने कहा :

"ये दोनों बातें एक-सी नहीं हैं। विश्व-सुन्दरी मिस फारिया का वियतनाम जाकर अमेरिकी सिपाहियों के सामने गाना-वजाना और अपने को प्रदर्शित करना एक बात है और किसी अन्य सामान्य नागरिक का वहां जाना दूसरी बात।"

३० नवम्बर

फारिया ने भारत सरकार से अपील की है कि उनकी विश्व-सुन्दरी उपाधि को राजनीति से अलग रखा जाए। वे अमेरिकी सिपाहियों का मन-वहलाव करने वियतनाम जाने के लिए तैयार हैं।

आज ही भारत के विदेश मन्त्रालय ने भी मिस फारिया को भारत का दौरा करके सरकार के सूखा-सहायता-कोष में अपना योगदान देने का निमन्त्रण भेजा है।

२ दिसम्वर

विदेश मन्त्रालय भरसक प्रयत्न कर रहा है कि फारिया वियतनाम न जाने पाएं। साउथ व्लॉक के कर्त्ता-धर्ता अभी फारिया के पासपोर्ट तो रद्द करने की नहीं सोच रहे किन्तु फारिया के माता-पिता और उनके मंगेतर द्वारा मिस फारिया पर जोर डलवाया जा रहा है।

३ दिसम्वर

लन्दन से मिली खवर ने, कि फारिया आखिर वियतनाम जा ही रही हैं, राज्य-सभा में हलचल पैदा कर दी। कम्युनिस्ट सदस्यों ने विश्व-सुन्दरी की यात्रा-योजना स्थगित कराने के लिए सरकारी कार्यवाही की मांग का शोर मचा दिया।

४ दिसम्वर

एक भेंट में श्री लोवो ने कहा कि रीता के लिए यही अच्छा होगा कि वे वियतनाम न जाएं। उन्होंने कहा कि जब रीता ने अनुवन्ध पर हस्ताक्षर किए थे, उस समय शायद उन्हें यह नहीं कहा गया था कि उन्हें दक्षिण वियतनाम भी जाना पड़ेगा।

७ दिसम्बर

"अगर समझौते में वियतकॉंग के बीच जाने की बात होती तो मैं उनमें भी जाती।" जब फारिया को बताया गया कि श्री लोबो उनका वहां जाना ठीक नहीं समझते तो फारिया ने तपाक से जवाब दिया, "मैं उनके विचारों की जिम्मेदार नहीं।"

पत्रकारों के और कुरेदने पर और लोबो के कलकत्ता में दिए कथन पर कि वे चाहेंगे कि मिस फारिया समस्त विश्व-सुन्दरी कार्यक्रम स्थगित कर उनसे विवाह कर लें, फारिया की प्रतिक्रिया पूछी गई तो उन्होंने कहा, "विवाह की बात मैं करूंगी, किन्तु आपसे नहीं। सिर्फ लोबो ही से इस विषय में चर्चा होगी।"

२२ दिसम्बर

मिस फारिया की वियतनाम-यात्रा के सन्दर्भ में जब एक संवाददाता ने श्रीमती गांधी से पूछा कि क्या अपनी इस सेवा के इनाम-स्वरूप मिस फारिया राजनयिक कार्य के लिए नामजद की जाएंगी तो चारों तरफ से हंसी के फव्वारे छूट पड़े।

२३ दिसम्बर

कुछ अमेरिकी कलाकारों ने बॉब होप के साथ अमेरिकी सैनिकों के मन-बह-लाव के लिए वियतनाम जाने से इनकार कर दिया। लेकिन भारत की रीता फारिया अपने देश की विपरीत सलाह के बावजूद होप-टोली का साथ दे रही हैं।

३ जनवरी

वियतनाम से वापस लन्दन पहुंचने पर फारिया ने कहा, "धूल और कीचड़ में बैठे १० से १२ हजार सिपाहियों के समवेत गान का दृश्य मेरे जीवन का सर्वाधिक रोमांचकारी अनुभव था। हर रात शो के बाद घर पहुंचने तक मेरे आंसू थमते ही न थे।"

६ जनवरी

सीरिया की एक पर्यटन संस्था ने आज सूचित किया कि क्रिसमस पर वियतनाम जाने के फलस्वरूप उन्होंने अपने उस निमन्त्रण को वापस ले लिया है जो उन्होंने रीता फारिया को अपने देश आने के लिए भेजा था।

७ जनवरी

सोवियत सरकार के एक राजनैतिक साप्ताहिक ने कहा कि अमेरिका ने गैर-

सरकारी नागरिक मिस रीता फारिया के माध्यम से, अप्रत्यक्ष रूप से सही, भारत को वियतनाम के अमेरिकी-आक्रमण में लपेटना चाहा है।

२ फरवरी

फारिया ने लोवो से अपना पंचवर्षीय रिश्ता तोड़ दिया है। इस विषय पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा, "ओसवोर्न से मेरा पत्र-व्यवहार अभी भी चल रहा है, परन्तु ये पत्र पूर्णतः सात्त्विक हैं।"

आज मिस फारिया सुनहरे रंग की रोल्स रायस में बैठकर लन्दन के एक थियेटर में पहुंचीं। गाड़ी-चालक थे—विख्यात पूंजीपति श्री गुलू लालवानी।

"मैं श्री लालवानी के साथ उनके परिवार के लन्दन-निवास-स्थान पर रह रही हूं।" फारिया ने सूचित किया और फिर सूचना में यह टिप्पणी भी जोड़ दी, "निःसन्देह हम दोनों मित्र-मात्र हैं।"

५ मार्च

उनके डॉक्टर बनने में चाहे कितनी ही कठिनाइयां हों, फारिया की नुस्खा लिखने की आकांक्षा तो पूरी हो ही गई है। यह अन्य बात है कि नुस्खे दवाइयों के न होकर सौन्दर्य-सज्जा के हैं। फारिया ने लन्दन के एक प्रसिद्ध शृंगार-कक्ष में काम शुरू कर दिया है। इस सिलसिले में उन्हें इंग्लैंड का दौरा करना होगा और अपने कक्ष की ओर से सौन्दर्यवर्द्धक नुस्खे लिखने होंगे।

३१ जुलाई

कल रात फारिया ने ऐलान किया कि सौन्दर्य-प्रतियोगिता-संचालक संस्था, मक्का लिमिटेड, से वे सम्बन्ध तोड़ रही हैं। उनकी शिकायत है कि यह संस्था सौन्दर्य-संसार में उनके वारह-मासी शासन का सुचारु संचालन नहीं कर पाई और अनुबन्ध के वायदों को भी उसने पूरा नहीं किया।

२ अगस्त

मक्का लिमिटेड के प्रवक्ता ने फारिया की बात को गलत बताते हुए कहा, "हम उन्हें अनुबन्ध से बांधकर रखेंगे। यदि रीता फारिया ने कोई और काम हमारी सहमति के विरुद्ध लिया तो उनपर मुकदमा भी दायर किया जा सकता है।"

१९ सितम्बर

फारिया आज एक कम्पनी में फैशन डिजाइनर और मॉडल बन गईं। फर्म की पुरानी डिजाइनर ने त्यागपत्र देते हुए कहा कि रीता ने उनके सारे नमूनों का

ही नहीं बल्कि सारी शो का श्रेय हथिया लिया है।

"मैं स्केच बनाती थी, कपड़े का चुनाव करती थी और फिर खुद उनकी कताई करती थी, अर्थात् सारा काम मेरा ही था। फारिया को आता ही क्या है? और रही कपड़ा चुनने की बात तो उसे तो रेशम और टाट में भी तमीज नहीं।" डिजाइनर जेन फॉक्स ने कहा।

३० अक्तूबर

रीता की मां, श्रीमती फारिया, जो अब लन्दन में हैं, संसार की सब मांओं की भांति चाहती हैं कि उनकी बेटी शादी कर ले और सुखी-सम्पन्न रहे।

फारिया ने, जो अपनी 'सल्तनत' के आखिरी कुछ सप्ताह व्यतीत कर रही हैं, कहा कि वे लन्दन विश्वविद्यालय में अपनी डॉक्टरी की पढ़ाई पुनः आरम्भ करने जा रही हैं। उसके बाद वे अपने अमेरिकी मंगेतर से शादी करेंगी।

उन्होंने कहा कि हो सकता है, एक दिन वे भारत जाएं लेकिन कुछ दिन की तफरीह मात्र के लिए ही। उनकी मां बड़ी जिज्ञासा से उस दिन का इन्तजार कर रही हैं जब उनकी बेटी के सम्मान की अवधि समाप्त होगी।

"वह सब अच्छा था परन्तु समस्याएं भी कुछ कम नहीं थीं। मुझे खुशी होगी जब यह सब खत्म हो जाएगा।" मां फारिया ने कहा।

१ नवम्बर

फारिया ने आज एक और क्षेत्र में कदम रखा। उन्होंने कीनिया के एक सफारी में शामिल होकर अफ्रीका की पथरीली, ऊबड़-खाबड़ और गर्दीली सड़कों पर तेज मोटर चलाई। जब उन्होंने एक मोड़ पर मोटर इतनी तेजी से घुमाई कि वह सिर्फ दो पहियों पर ही थी, तो उनके चाहने वाले चीख उठे। फिर उन्होंने एक 'स्पोर्ट्स' गाड़ी को इस फर्राटे से चलाया कि प्रेस-कैमरा वाली गाड़ी काफी पीछे छूट गई और विश्व-सुन्दरी के गति-चित्र प्राप्त न हो सके।

शांति की सीमाएं जोड़ता : सीमांत गांधी

आज की दुनिया घृणा और फूट की भूलभुलैया में फंसकर रह गई है। वियत-नाम, कम्बोदिया, ईरान, इज़राइल, आयरलैंड, रंग-भेद, जाति-भेद—तरह-तरह के ठंडे-गर्म उपद्रव ! इन आग की लहरों के बीच कहीं-कहीं एकाध द्वीप हैं अभी भी हरियाले, शांतिप्रद और उम्मीद बंधाने वाले। ऐसे ही एक द्वीप, विश्व-रेगिस्तान के अनोखे नखलिस्तान हैं—बादशाह खान, जिनका जीवन शांति का मूर्तिमान संदेश है। विश्व-शांति और समझौते का प्रतीक नेहरू-पुरस्कार बादशाह खान को प्रदान किया गया। शांतिप्रिय युगद्रष्टा नेहरू और अहिंसा के पुजारी गांधी की स्मृति में एक और कड़ी जुड़ गई। लेकिन कौन है यह विश्वास और जीवट का पुंज ? कौन है यह तपस्वी जो मरघट में धूनी रमाता है ? चारों ओर के भटकाव पर सहानुभूति से पिघल जाता है—टूटता नहीं ?

बादशाह खान, सीमांत गांधी, खान अब्दुल गफ़्फ़ार खां—सब एक ही इकाई के अनेक रूप हैं। एक इकाई जो लगभग नौ दशकों से तप-तपकर खरी, और खरी उतरती जा रही है। एक ऐसा व्यक्तित्व जो भीतर-बाहर से अविच्छिन्न है, जिसकी आकृति की सादगी, विचारों का सधापन और भावना की सच्चाई एकाएक लुभाती है—अनायास मोह लेती है। लम्बे-चौड़े आकार वाले पठानों से हमारे पूर्वजों ने सदा अपने बच्चों को डराया। फिर हमने जाना रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'काबुली-वाला' को जो अपनी फौलादी काया में तरल-सरल हृदय रखता है। उसके बाद हमने आश्चर्य से देखा ६ फुट ३ इंच लम्बे कद के इस अद्भुत पठान को जो साबर-मती के संत का प्रतिबिम्ब जान पड़ता है। इसका पठानी खून अपने लक्ष्य की सार्थकता में ही जोर मारता है। क्रोध की व्यर्थता से उसे कोई वास्ता नहीं।

आज सीमांत प्रांत और भारत का यों कोई भौगोलिक सम्बन्ध नहीं है। धर्म और संस्कृति की दृष्टि से भी वहां की अधिकांश जनता मुसलमान है। किन्तु २०वीं

शताब्दी में एक चमत्कार हुआ—महात्मा गाधी—और उसने अगाध दूरियो को आजादी के झंडे के नीचे खड़ा करके मिला दिया। सीमान्त प्रान्त पर काग्रेस का विशेष स्नेह था। यहीं लाल कुर्तो की स्थापना हुई। जो एक 'मिनी काग्रेस' संस्था थी। लाल कमीज उनका पहनावा था, मार्क्सवाद की लाली से इसका कोई वास्ता न था। इस संस्था के केवट थे बादशाह खान। आजादी की लडाई में उनकी कुर्बानिया किसीसे कम नहीं थीं। पर जब आजादी मिली तो अग्रेजों ने उन्हे अलग खड़ा कर दिया—सीमात प्रान्त सौतेलो के हवाले हो गया। और खान साहब चौराहे पर खड़े रह गए। सारी तपस्या पर जैसे पानी फिर गया। समस्त पारिवारिक ऐश्वर्यों को त्याग, समाज-सेवा की जंग मे छलांगने वाला सिपाही विजय की संध्या में अकेला छूट गया। उसे क्या मिला—पिता की आज्ञा ठुकराकर, विलायत में इंजीनियर बन पाने की संभावना का तिरस्कार कर?

बादशाह खान १९२० मे जेल गए और उसी समय गाधीजी के अहिंसा सिद्धात से उनका परिचय हुआ। फिर उन्होंने मुस्लिम देशों—तुर्की, मिस्र, सीरिया का दौरा किया। उन्होंने देखा कि ये देश संकुचित राष्ट्रीयताकी कीचड मे लथपथ पडे हैं। तभी इस नौजवान ने तय कर लिया कि 'विश्व इस्लाम' की चर्चा थोथी है और यह भी कि जातीयता से किसीका कोई भला नही होने जा रहा है।

खान सदा पुकार-पुकारकर बताते रहे कि जातीयता का घुन किसी भी देश को पोला बना सकता है। स्वार्थ मनुष्य का शत्रु है। सत्ता हमे डुबाती है। उन्होने जननेताओ से कहा कि अधिक बातें जनता को उलझाकर रख देती हैं और जनता भटक जाती है। हमें कम बोलना चाहिए, अधिक गुनना चाहिए और सर्वाधिक 'करना' चाहिए। यही गुर, शब्दो के उलट-फेर से, वे आज तक सिखा रहे हैं। आज बस अंतर इतना है कि उनकी वाणी मे हताशा की तल्खी ध्वनित है और तीखे दर्द की कसक भी।

यह सिपाही अब स्वतंत्र पख्तूनिस्तान की बात नही करता। कश्मीर की समस्या पर बोलता तो है, परन्तु कुछ अलगाव के साथ। पाकिस्तान की शासन-प्रणाली तो उसे कभी समझ आई ही नही। यो भारत मे भी एडी से चोटी तक भ्रष्टाचार और भ्राति दिखाई देती है। शायद इसीलिए वह अपने कते-बुने कपडों की पोटली का भार सदा खुद ही उठाना चाहता है और गाधी शताब्दी समारोह का उद्घाटन करने मे अपने-आपको असमर्थ पाता है। इस अवसर पर दिल्ली पहुचने की तीसरी भोर ही तीन दिन की भूख-हडताल कर देता है। खान का मन साम्प्रदायिक दंगो मे होने वाले रक्तपात को देखकर छिलछिल गया था।

२२ वर्षो के लम्बे अरसे के बाद बादशाह खानके भारतलौटनेका क्षण महत्त्वपूर्ण था। गाधी-जन्म-शताब्दी मे मानो दूसरा गाधी भारत आ गया। लेकिन, वही सप्ताह भारत मे, गाधी के अपने प्रदेश मे, साम्प्रदायिक दगो का सिद्ध हुआ।

एक वार लगा कि सव असिद्ध हो गया और स्वागत की गरिमा फीकी पड़ गई। लेकिन, क्या यह गलत हुआ? क्या इसी क्षण सीमांत गांधी की हमसे अधिक आवश्यकता नहीं थी? क्या उनके आगमन ने, उनके क्षोभ ने, देश में छाए गांधीवाद के अस्वीकार और गांधी-पूजा के मजाक को रेखांकित नहीं कर दिया?

वादशाह खान एक धार्मिक व्यक्ति हैं। असहयोग आंदोलन में भाग लेने के प्रारंभिक दिनों में अंग्रेजी अफसर के कहने पर वादशाह खान के पिता ने उन्हें इस मार्ग से विमुख करने के लिए समझाया-वुझाया। तव यह दलील देकर वादशाह ने पिता को निरुत्तर किया था कि अंग्रेज मुझे नमाज पढ़ने को मना करें तो क्या मुझे मान जाना चाहिए? किन्तु वादशाह खान की धर्मपरक दृष्टि सामान्य धार्मिकों से विल्कुल अलग है। उनके लिए धर्म आपसी फसाद का कारण नहीं, आपसी मेल-मिलाप का साधन रहा है। खान के अनुसार, धर्म एक आंदोलन है, यदि इसमें शामिल होने वाले लोग निःस्वार्थ, त्यागी और नेक हैं—यदि इस धर्म की परिधि देश और विश्व को आलिंगित करती है। धर्म हमें अधिक अच्छा विश्व-मानव वनाता है। धर्म साधन है—साध्य नहीं। जव यह मानकर चला जाए तभी यह आंदोलन सफल हो सकता है।

ऐसा सोचने वाले व्यक्ति न सिर्फ अपने देश और जाति के लिए वल्कि मानव-मात्र के लिए नियामत हैं। धर्म वड़ी महान लेकिन वेहद नाजुक चीज है। सामान्य मनुष्य में हर अच्छी चीज की गलत व्याख्या करने की कितनी ज्यादा ताकत है—वादशाह खान खूब समझते हैं। तभी वहुत शुरू में ही उन्होंने एक वार अपने सेक्रेटरी से संदेह प्रकट करते हुए कहा था कि गांधीजी की गहरी वातें आम जनता के लिए कहीं धोती, चोटी और वकरी के दूध तक ही सीमित न रह जाएं।

इस सलवार-कुर्ते वाले व्यक्ति में अतीव चिन्तनशक्ति के अतिरिक्त व्यावहारिकता का अद्भुत समावेश है। वे एक साधारण मनुष्य का कम खर्चीला जीवन व्यतीत करते रहे हैं। वाड़ों में सोए हैं, अपना कमरा खुद वुहारा है, कपड़े वरावर अपने हाथों से धोए हैं। वच्चों को खान साहव ने हमेशा प्यार किया। कई वार मैले-कुचैले नन्हे-मुन्ने को सड़क से उठा लाए। उन्हें नहलाया-धुलाया, सजाया-संवारा और खिला-पिलाकर उनके घर वापस भेज दिया।

नैनी जेल का यह दीवाना कैदी खेल के वक्त कैनवस के जूते और निकर पहनकर वैडमिंटन के मैदान में जूझ जाता था। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी जीवनी में कहा है, "मुझे एक दोपहर सपना दिखा कि अब्दुल गफ्फ़ार खां पर चारों ओर से प्रहार हो रहे हैं और मैं उन्हें वचा रहा हूं। मुश्किल से मेरी नींद टूटी। इस सपने ने मुझे वहुत हिला दिया था और मैं परेशान हो उठा था। मेरा तकिया आंसुओं से गीला था। अपनी इस स्थिति पर मुझे आश्चर्य हुआ क्योंकि जाग्रत् अवस्था में मैं भावुकता-प्रदर्शन से वहुत परे था।"

बादशाह खान सबका महबूब रहा है—गांधी का, नेहरू का, लाल कुर्ती वालों का और भारत की जनता का। वह भीतर से एक निरीह शिशु है। यदि उसे कोई पसंद न कर पाए तो वे थे दो देश—इंग्लिस्तान और पाकिस्तान। दोनों ने मिलकर लगभग चालीस साल उसे कारागार की काली कोठरी में बंद किए रखा और उसकी मुस्कान छीन ली। अंग्रेजों ने अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए खान पर पहरे लगाए थे और पाकिस्तान भी उसीको बनाए रखने के लिए सीमांत गांधी को जेल में बूढ़ा करता रहा। खान अब्दुल गफ्फार खां बलूचियों के रहनुमा हैं और उनके हकों के पहरेदार। माग करने वाला सत्ता का स्वाभाविक शत्रु मान लिया जाता है, क्योंकि उसकी आवाज कहीं-न-कहीं सरकार की खामियों को बुलंद करती है। यही वजह है कि दुनिया की हर सरकार के अधिकतर प्रचार-साधन मांगों की आवाजें कुचलने में काम आते हैं। यहां मामला टेढ़ा था। सीमांत गांधी का व्यक्तित्व इतना विशाल था कि उससे टकराना आसान नहीं था। पाकिस्तान ने यह ठीक समझा कि इस सिरफिरे खुदाई खिदमतगार की निर्भीक पुकार को बंद करके रखा जाए ताकि उसकी ललकार पर जनता के उठ खड़े होने का खतरा रहे और न दुनिया को भौंहें उठाने का मौका मिले।

यों, उनकी इस मुसकान के मिट जाने में उनके दोस्तों का भी हाथ रहा है। और इसने उनके दिल को छेद डाला है। जीवन के अजीबोगरीब अनुभवों के बाद उन्हें किसीका भरोसा नहीं रह गया है। दिल्ली के पालम हवाई अड्डे पर मवाददाताओं के संदेश-अनुरोध के बाद उन्होंने पत्रकारों से एक उदास सवाल पूछा था, "भैया, आप लोग वही लिखेंगे न जो मैंने कहा है ?" और फिर जैसे खुद ही सवाल का जवाब देते हुए बोले थे, "पंजाब में तो मैं जो बोलता हूं, उसका उलटा छपता है।" पंजाब से उनका अभिप्राय पाकिस्तान से था।

बादशाह खान आक्षेपों की जादूगरी से खूब परिचित हैं। इस नगर की हवाओं में खंजर छिपे होते हैं। उनपर आरोप लगाया गया कि वे पुरस्कार में मिले भारतीय धन का उपयोग पाकिस्तानी चुनावों को प्रभावित करने के लिए कर रहे हैं। मनुष्य की मनुष्यता में विश्वास रखने वाले इस पठान का खून किस कदर खौला होगा इसका अन्दाजा उस चुनौती से लगाया जा सकता है जो उन्होंने रेडियो अफगानिस्तान से पश्तू में प्रसारित की। उन्होंने कहा कि भारत से मिली सारी रकम बैंक में जमा है और पाकिस्तान सरकार का कोई कर्मचारी या कोई भी सामान्य पाकिस्तानी नागरिक उनके बैंक-खाते की जांच कर सकता है।

बादशाह खान की जिन्दगी यों ही एक पैर जेल में और एक बाहर बीती है। बल्कि कहा जाए कि जब उन्हें उनके स्वभाव के कारण जेल में रखना नामुमकिन हो गया तभी मजबूरन बाहर करना पड़ा। जेल में डालने के लिए सरकार के पास बहानों की कभी कमी न रही। यहां तक कि अखबार पढ़ने वालों को भी इसकी आदत

पड़ती चली गई। नमूने के तौर पर, बादशाह खान को अचानक मुलतान गिरफ्तार कर लिया गया। वे बलूचिस्तान की राजधानी क्वेटा में सार्वजनि सभाओं को संबोधित करने जा रहे थे। इस वक्त वे अपनी इस यात्रा का उपयो पठान और बलूचियों के बीच पड़ रही दरार को कम करने के लिए कर सकते लेकिन सरकार ने उन्हें यह अवसर नहीं दिया। राजनीति के ऊंचे मोहरों व टेढ़ी चाल में शांति की सीधी चाल चलने वाले प्यादे की कोई जरूरत नहीं समझ गई।

एक अन्तराल के बाद खबर आई कि बादशाह खान गंभीर रूप से अस्वस्थ और दो देशों की कूटनीति के बीच घुन की तरह पिसता रहा एक निर्दोष, समर्पि आदर्शवादी बूढ़ा। चिकित्सा के लिए सोवियत संघ जाने का वीजा मिलना ए तमाशा बनकर रह गया। आखिरकार बादशाह खान ने हिन्दुस्तान जाकर अपन स्वास्थ्य परीक्षा और चिकित्सा कराने की इच्छा पाकिस्तानी राष्ट्रपति जनरत जिया उल हक़ के सामने रखी। उनकी इस अदना अपील का क्या हुआ, दुनिय को आज तक पता न चला। पता चला इतना ही कि वे न रूस गए, न भारत आए। और कहीं बहुत गहरे, भीतर—दुनिया को यह भी अहसास होता रहा कि तोप-तलवार को भी खतरा हुआ करता है—तपस्या में खुद को गला देने वाले निहत्थे दधीचि की अस्थियों से।

× × ×

पर भारत की खुशकिस्मती। घटनाचक्र ने कुछ ऐसा रुख लिया कि बादशाह खान को सन् १९८० के शुरू में पाकिस्तान सरकार ने इलाज के लिए दिल्ली आने की इजाजत दे दी। भारत तो हमेशा ही इनकी अगवानी में पलकें बिछाए था। बादशाह खान की खिदमत करने का मौका पाकर अपने को सराहा, लेकिन दिल्ली की मेडिकल इंस्टीस्यूट में भरती होते समय उस शेर-से जिस्म वाले इंसान को ढीला-ढाला हड्डियों का ढांचा देखकर, सबका जी बैठ गया। जी-जान लगाकर डाक्टरों ने सेवा की और ९२ वर्षीय बादशाह खान स्वास्थ्य-लाभ कर, ३० जून की शाम को विमान द्वारा दिल्ली से नागपुर पहुंचे, वहां से पवनार जाकर आचार्य विनोबा भावे से मिले और सेवाग्राम जाकर बापू की कुटिया में विश्राम किया कुछ देर, मानो उनकी तीर्थ-यात्रा पूरी हुई।···लेकिन दरअसल एक साकार तीर्थ स्वयं आकर भारत को पवित्र कर गया।

खण्ड 3



आधा अंग

नारी अपने आकार से ग्रस्त है
देह के फूल में खुशबू-सी ग्रस्त है।

नारी और विधायक

अक्सर पश्चिम की दुनिया से अजीबोगरीब खबरें आंधी की तरह उठकर हमारे दिमाग झकझोर जाती हैं। कभी पढ़नेमें आता है कि बहुत-सी सुनहरे बालों, नीली आंखों वाली कुमारियां दिगम्बर अवस्था में ब्रिटेन के एक प्रधानमन्त्री को अपने पॉप समारोह में प्यानो बजाने का आमंत्रण देने जा पहुंचीं तो कभी स्त्रियों के 'लिब' आंदोलन की नेता ग्लोरिया स्टाइनेम इसपर रोष प्रकट करती हैं कि यदि पुरुष सदा 'श्री' रह सकता है तो स्त्रियों को 'कुमारी' और 'श्रीमती' के ढोल की क्या जरूरत ? ये सब समाचार हमारे 'पूर्वी' मन में उद्वेलन से ज्यादा कौतूहल जगाकर रह जाते हैं। भारत की आर्थिक और सामाजिक प्रगति इन उन्नत देशों का बगलगीर नहीं हो सकती। यहां की स्त्रियां अभी कल ही पर्दे से बाहर आई हैं। वेशभूषा, शृंगार और यौन-स्वाधीनता में उन्हें अभी बहुत मंजिलें तय करनी हैं। पश्चिम की स्त्री का स्वतन्त्रता-अभियान भारतीयों का शंखनाद नहीं बन सकता।

भारतीय स्त्री ने अपना संघर्ष अधिक गहरे और गंभीर स्तर पर शुरू किया है। इसका श्रेय स्त्रियों को उतना नहीं जितना उन मनीषी समाज-सुधारकों को है जिन्होंने यह स्पष्ट देखा कि किसी भी समाज का उन्नयन तब तक संभव नहीं जब तक उसकी स्त्रियां मानवोचित सम्मान और समानाधिकार नहीं पाएंगी।

भारतीय संविधान में स्त्रियों को पूर्ण समानता मिली है। १९४७ में स्वाधीनता पाते ही लक्ष्य निर्धारण-प्रस्ताव में यह समानता सिद्धांत रूप रखी गई थी। इसको, बाद में संविधान में सम्मिलित कर लिया गया। संविधान की पंद्रहवीं और सोलहवीं धारा के अनुसार स्त्रियों को नौकरी पेशे में समान अवसर दिया गया था। तत्पश्चात् स्वाधीन भारत के सामाजिक विधेयक ने स्त्री को उत्तराधिकारी, सम्पत्ति और विवाह के क्षेत्र में पुरुष की समकक्षता प्रदान की। यह कम बड़ी

उपलब्धि नहीं थी, लेकिन दुख की बात यह है कि मनीषियों ने जिस तथ्य को समझा था, सामान्य नागरिक उसे आत्मसात् न कर पाया। इसीलिए जहां एक ओर कुछ भारतीय प्रबुद्ध नागरिकाएं उन्नति के चरम शिखर पर पहुंच गई, वहीं दूसरी ओर पिछड़े हुए परिवारों में स्त्री अपनी पूर्व दशा से बिलकुल ही उबर नहीं पाई। स्थिति की भयंकरता वहां सबसे ज्यादा है जहां नारी अपनी अवस्था की शोचनीयता को अवश्यंभावी नियति मानकर निर्विरोध स्वीकार करती है। परिस्थिति को बदलने की इच्छा का विद्रोह का कोई अंकुर उसके अवचेतन में स्वप्न नहीं जगाता।

फिर भी, प्रगति का सदा स्वागत है। वह किसी भी सिरे से, किसी भी सीमा से प्रारंभ क्यों न हो, अपने नैसर्गिक स्वभाव के कारण प्रसार पाती है। कार्यसिद्ध महिलाएं औरों के लिए हमेशा ही प्रेरणा और संभावना का दर्पण बनी रहेंगी। पहले आम चुनाव में ही आठ करोड़ तीस लाख से अधिक स्त्रियों ने मतदान दिया। विजेता महिलाओं में से तीन मंत्री-पद के लिए चुनी गई और अड़तीस संसद-सदस्याएं बनीं। यह स्थिति तो १९५२ में थी। पांचवें आम चुनाव में यद्यपि विधान-सभाओं और राज्य व लोकसभा में चौथे आम चुनाव के मुकाबले कम स्त्रियां निर्वाचित हुईं, लेकिन उनकी राजनीतिक सूझ-बूझ १९४७ से कई गुना बढ़ चुकी थी।

शिक्षा को, जो कि किसी भी देश के विकास के लिए ताजी हवा की तरह जरूरी है, उसे यदि स्वतंत्र भारत में स्त्री के संदर्भ में देखें तो पाएंगे कि पच्चीस वर्षों में आश्चर्यजनक परिवर्तन आया। इस दौरान एक करोड़ अस्सी लाख लड़कियों ने व्यावसायिक प्रशिक्षण पाया और लगभग ४ करोड़ ने कॉलेज में दाखिला लिया। दस हजार से अधिक लड़कियों ने विशिष्ट धंधों की उच्च शिक्षा प्राप्त की। फिर भी देश में पंद्रह से बीस करोड़ स्त्रियां अशिक्षित हैं जिन्हें मानो सूर्य की किरण अभी छू ही नहीं गई है। इसीलिए कोठारी शिक्षा आयोग ने सुझाव दिया कि नारी-शिक्षा को एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम का दर्जा देना ही होगा और स्त्री-पुरुष की शिक्षा के बीच की खाई पाटने के लिए सतर्क और मजबूत कदम उठाने होंगे। इस काम के लिए धनराशि नियत करने में प्राथमिकता दी जानी चाहिए और केन्द्र व राज्य दोनों सरकारों को विशेष उपाय कार्यान्वित करने चाहिए ताकि महिला-शिक्षा का समुचित प्रबंध और प्रसार-प्रचार हो।

इन्हीं पच्चीस वर्षों के भीतर चार ऐसे वैधानिक परिवर्तन सम्मुख आए जिन्होंने स्त्री-स्वाधीनता की रफ्तार सचमुच ही तेज कर दी। शताब्दियों तक भारतीय स्त्री के लिए पृथक् संपत्ति की कोई व्यवस्था नहीं थी। सन् १८७४ में पहली बार विवाहिता स्त्रियों को यह अधिकार मिला था कि वह अपनी कमाई को, चाहे वह कलात्मक निर्माणों द्वारा प्राप्त हो या किसी अन्य उद्योग द्वारा, अपना कह सकें। अन्यथा उसपर भी पुरुष का अधिकार था। धीरे-धीरे अचल संपत्ति के

बटवारे में स्त्रियों को भी सम्मिलित किया जाने लगा किन्तु फिर भी वह उसकी न बपौती थी, न कानूनी हक। इस दिशा में क्रांतिकारी हलचल मची १६५७ में, जब पत्नी को पुत्र के समकक्ष पति की सम्पत्ति का समान हकदार स्वीकार किया गया और अविवाहित स्त्री व परित्यक्ता पत्नी को भी बच्चा गोद लेने का हक दिया गया। बाद में जब पुत्र और पुत्री को समान रूप से पिता की चल-अचल सम्पत्ति का वारिस ठहराया गया तब तो मानो स्त्री-दासता की जंजीर की कड़ियां ही टूट गईं।

दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम उठाया गया विवाह और तलाक-संबंधी नियमों के सुधार में। १६५५ के हिन्दू कोड बिल और हिन्दू विवाह ऐक्ट में बहु-विवाह कानूनन निषिद्ध कर दिया गया और स्त्री व पुरुष को तलाक के समान अधिकार दिए गए। तलाक की शर्तों में लचीलापन लाया गया। फलतः उस स्त्री को जीवन की संभावना फिर से मिली, जो पुरुष के अत्याचार और अनाचार से दम तोड़ रही थी।

१६५६ में वेश्यावृत्ति को गैरकानूनी करार करके, स्वाधीन भारत ने स्त्री के सम्मान की रक्षा की एक और ढाल तैयार की। वासना के हाट में उपकरण की तरह बिकती स्त्री को मनुष्यत्व और व्यक्तित्व लौटाया गया। कुछ आलोचकों का मत है कि चकले और बाजार उठाकर गंदगी अब हर मुहल्ले में बिखरा दी गई है। किन्तु इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि सजा का डर गुनहगारों को सहमा देता है। उनके उद्दंड हाथों में हथकड़ी की संभावना तो वह बना ही देता है।

एक-चौथाई शताब्दी का सर्वमान्य, सबसे निर्भीक कार्य १६७१ में हुआ। गर्भपात को न्याय-सम्मत मान लिया गया। इस कानून ने अनचाहे मातृत्व के बोझ को अकेली उठाती कुआरियों, पिछड़े परिवारों की घिसी-पीटी लकीरों को पीटती बहुओं की निरंतर जर्जर और क्षीण होती काया को निपट अंधेरे से निस्तार का का मार्ग सुझाया है।

संविधान अधिकार दे सकता है, और न्यायालय अधिकारों की रक्षा कर सकता है, लेकिन दोनों तभी हो पाते हैं जब स्वयं अपने में अधिकार के लिए लड़ने की मजबूती हो और उससे भी पहले अपने अधिकारों की समझ हो। बात लौटकर फिर शिक्षा पर आती है। भारत में असाधारण महिलाओं की कमी नहीं। जीवन के हर क्षेत्र में भारतीय नागरिकों ने अपने कौशल दिखाए हैं। लेकिन सामान्य भारतीय नारी अपनी सामाजिक सीमाओं, अवरोधों से उबर नहीं पाई है। यह संघर्ष अभी अर्से तक जारी रहेगा। तब तक, जब तक असाधारणता, सामान्य और साधारण उपलब्धि नहीं हो जाती।

घरे बाहरे : आदम हव्वा !

जी, क्या होगा आपकी और हमारी गृहस्थी का? शायद गाड़ी कहीं चरमराकर दलदल में धंस जाएगी, शायद ऊंची महल भहराकर मिट्टी में मिल जाएगा। लेकिन यह भी तो हो सकता है कि कीचड़ में अचानक कमल खिलने लगें। सच तो यह है कि नर-मादा के मसले उस दिन से और रंगीन हो गए जिस दिन स्त्रियां उगते सूरज से नजरें मिलाने के लिए चिलमन से यों निकल आईं जैसे काली घटाओं से चांद। अकबर इलाहाबादी ने कहा है :

"बेपर्दा नजर आईं, जो कल चंद बीबियां,
'अकबर' जमीं में ग़ैरते-क़ौमी से गड़ गया,
पूछा जो उनसे 'आपका पर्दा कहां गया?'
कहने लगीं, कि 'अक्ल पे मर्दों की पड़ गया'।"

अब यह पर्दा कहां से उठा और कहां गिरा—इसका फैसला कौन करे? इस बारे में कोई स्त्री कुछ बोले तो झट उसपर इलजाम आ जाएगा। उसने स्त्रियों की ओर से कुछ कहा तो दोषारोपण साफ ही है। लेकिन कहीं पुरुषों की तरफदारी कर दी तब तो अपनी बिरादरी में हुक्का-पानी ही बंद हो जाएगा। खैर, जिन्दगी खतरे उठाने का ही नाम है। राम का नाम लेकर बढ़ चलते हैं तसल्ली के साथ कि :

"वो तिफ्ल क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल चले?"

प्रश्न समान अधिकारों का है। बराबरी हमने कई तरह की देखी। एक का प्रदर्शन पुरुषों ने जुल्फें बढ़ाकर और रंग-बिरंगी, फूल-पत्तीदार पोशाक जिस्म पर लहराकर किया। दूसरी तरफ लड़कियों ने डेढ़ इंची बाल रखकर, बाकी जमाने की रफ्तार में बहा दिए। एक ओर मर्दाने कुर्तों में कच्छ का काम, तिल्ला जरी और गोटे के फूल उभरने लगे तो दूसरी ओर कन्याओं ने फहराती साड़ियों और

नाचते गरारों को थनाए ताक कर उठे रंगों की मोटी-छोटी जीम चढ़ा ली।

हमने सुना, जमाना यूनी-सेक्स का है। औरत और मर्द क्यों लड़ें—फर्क ही क्या है दोनों में! दोनों दोस्त हैं, हमदर्द हैं और हमनवां हैं। जरूर होंगे। लेकिन फिर कुछ सवालों का जवाब उन्हें देना होगा।

मेरी एक सहेली है—जितनी खूबसूरत उतनी ही खुशमिजाज। उसकी जितनी तारीफ की जाए, कम। भरत-नाट्यम में वह महारत रखती है, सुब्बुलक्ष्मी की तरह गाती है; खाना पकाने में चुस्त, बेटी को सजा-संवारकर रखने में उसका सानी नहीं। उससे भी बड़ी बात यह है कि चार अक्लमंदों में बैठकर बहस छेड़ दे तो मिनटों में उन्हें चारों खाने चित्त कर दे।

एक दिन उससे और उसके पति में ठन गई। यों भी प्यार का वजन अक्सर मीठी तकरार से तौला जाता है। लेकिन यहां तो आठ साल पुराने ब्याह की कम-से-कम आठ तोला तुर्शी तो घुल चुकी थी। चुनांचे जब मेरी सखी के पति को ठीक समय पर नाश्ता नहीं मिला तब वह तुनककर बोले, "तुम्हारी लापरवाही से मेरी नौकरी चली जाएगी और छूमंतर हो जाएंगे तुम्हारे सारे धूम-धड़ाके। जब फाके करने पड़ेंगे तब छठी का दूध याद आ जाएगा।"

पत्नी पहले तो हक्की-बक्की रह गई। लेकिन जब बात का अर्थ बुद्धि की तह तक उतरा तब गुस्सा रफूचक्कर और वह बेसाख्ता खिलखिलाकर हंस पड़ी। पति आग बबूला हुए जाएं और श्रीमतीजी की फुलझड़ी थमने का नाम न ले। असलियत यह थी कि जितना पति कमाते थे, उतना ही पत्नी कमाती थी। अगर गृहस्थी में ऐश थे तो दोनों की कमाई की बदौलत और सच तो यह था कि पत्नी के चलते कम-से-कम पति को भूखों मरने की नौबत जीवन में कभी न आती। दोनों राही अर्थों में हमराही थे। गृहस्थी की रोशनी के नेगेटिव-पोजिटिव तार। दोनों में से एक भी निकल जाता तो जिन्दगी मोमबत्ती के सहारे उजलती।

पुरुष शायद यह कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता कि स्त्री आत्मनिर्भर हो जाए। वह छतनार वृक्ष की भांति औरत को अपने सहारे बढ़ती-चढ़ती बेल की तरह लिपटाए रखना चाहता है। उसे कब सहन है कि वह बेल एक छोटा-सा पौधा बन जाए और खुद जमीन से रस खींचकर मोतिया की तरह महकने लगे या टमाटर की तरह फलने लगे। सदियों से आज तक उसका सबसे बड़ा हथियार रहा है—धन। इसीलिए उसने औरत को गहनों से रिझाया। नाक में नथनी, नवेरा और पैरों में भारी पाजेब पहना दी फिर प्यार का जाल डालता हुआ बोला, "देख, मेरी आंखें तेरा आईना हैं। इनमें तू सोने से मढ़ी मोम की पुतली की तरह दमकती है।" फिर एक सुबह औरत ने पाया कि वह सोने के ताने और प्यार के बाने से बुने गृहस्थी के जर्क-बर्क पिंजरे में कैद है। जब उसने आजादी के लिए पंख फड़फड़ाए तब उसे नाजुक पंखों और बेदर्द फिजा की दुहाई देकर ताजी हवा से और दूर कर दिया

गया।

शायद कह सकते हैं कि यह पुराने जमाने की वात है। आज का प्रश्न यह नहीं। लेकिन जव मेरी सहेली का पति इतनी लचर और वेपर की उड़ाता है तव उसमें वही सदियों पुरानी गंध उभर आती है। उसी जाल की सुनहरी कौंध दिखाई देने लगती है जिसने खुद आज के पुरुष को इतना चौंधियाया है कि उसे नये जमाने की असलियत दिखनी ही बंद हो गई। वह पुरानी तर्ज पर गाता चला गया जव कि नई रागिनी कुछ और ही मांग करती थी। यह नहीं कि तस्वीर का दूसरा पहलू नहीं है। या मेरी खुद की नजर पर ऐसा रंगीन चश्मा है कि ऐसे दृश्य दिखाई ही न दें। वहुत-से खानदानों में स्वर्ग-सा घर नरक वन गया है, क्योंकि पति-पत्नी अपने-अपने हक के लिए लड़ने में इतने उलझे हुए हैं कि वे यह भूल वैठे कि खुशहाली उनकी मंजिल है, न कि लड़ाई में जीत।

अकसर लगता है कि हम अधिकारों के निरे ऊपरी अर्थों पर जाते हैं। जव कहा जाता है कि दोनों को वरावर का हक मिलना चाहिए तव हमारे मन में सिर्फ इतना आता है कि दोनों को नौकरी करने की इजाजत हो, दोनों प्रणय के क्षेत्र में आजादी वरतें, स्त्रियां इंजीनियर वन सकें, और आदमी वच्चा पालने से न कतराए। यह विचार हमें वहुत सीमित कर देता है। हम इतनी मोटी चीजों को प्राथमिकता दे वैठते हैं कि सूक्ष्म दृष्टि वालू में जल-विन्दु होकर रह जाती है।

जव तक शादियां होंगी और वच्चों को मां-वाप के साये की जरूरत होगी—उसे ऐसा चावी से चलने वाला खिलौना नहीं मान लिया जाएगा कि सरकार ने उसका पेट भरा, उसे स्कूल में पढ़ाया, काम सिखाया और एक जानदार पुतला तैयार कर लिया—तव तक गृहस्थी की तराजू के पलड़े ऊपर-नीचे ही होते रहेंगे। पश्चिम की तेज आंधियों के वावजूद अभी हमारे पैर अपनी जमीन से उखड़े नहीं हैं और इसीलिए फिलहाल ऐसा खतरा यहां दिखाई नहीं देता। अभी हमारे लिए घर घर है, होटल या सराय नहीं। स्त्री और पुरुष जिम्मेदार नागरिक हैं। माता-पिता केवल शारीरिक भूख मिटाने के दो उपकरणमात्र नहीं हैं। ऐसी हालत में दोनों के कंधों पर एक-सा वोझ है— वल्कि वोझ भी उसे क्यों कहें ? घर वसाना, क्या परेशानियों को आगे वढ़कर प्यार से वांहों में समेट लेना नहीं है ? यह वात सुनने में रोमांटिक जरूर लगती है, लेकिन असल में यह एक ऐसी सचाई है जिसे माने विना एक कदम भी चलना दूभर है।

क्या कभी सुनने में आया कि पत्नी की मिजाजपुर्सी के लिए पति ने दफ्तर में अर्जी भेजी हो ? लेकिन पत्नियां अकसर इस तरह के मानसिक तनावों में उलझकर ऐसा करती हैं। यहां यह तात्पर्य नहीं कि आदमी छुट्टी ले, औरत न ले। वात इतनी ही है कि सारी स्वच्छंदता के वावजूद स्त्री को यह समझ लेना पड़ता है कि उसे घर को प्राथमिकता देनी है—उसकी नौकरी, उसका कला-प्रेम और उसके मित्र

तथा संबंधी बाद में आते हैं। अधिकांशतः इस निर्णय के पीछे कोई तनाव की भावना काम नहीं कर रही होती। यह तो सीधा वास्तविकता को झेलने का प्रश्न है। जी न चाहने पर भी दफ्तर की हाजिरी बजाना पुरुष की किस्मत है और घर की पुकार पर बेहद जरूरी मीटिंग की तरफ से आंखें मूंद लेना स्त्री का भाग्य। लेकिन दोनों के अपने गढ़े हुए, अपने बनाए हुए। जो अपनी सीमा तोड़ दे, वही अपराधी। शहीदाना अदा स्वीकार कर ली तो भी किए-कराए पर पानी फिर गया। और आधुनिक होकर क्या करे अगर उसकी खुशी ही उसमें छिन जाए!

तर्क किया जा सकता है कि, तब, अगर जापान में एक ही काम के लिए स्त्री को पुरुष से कम वेतन मिलता है, या पश्चिम के कुछ देशों में जिम्मेदार पदों पर स्त्रियों को नहीं बैठाया जाता, तो यह ठीक ही है। यह भी पुरुषों की दलबंदी नहीं, सचाई का स्वीकार है। फिर अपने पुराने प्रश्न पर लौटें कि समानता का संबंध गहराइयों से है। *जिन्दगी के एक मोड़ पर आकर हमें तय करना पड़ता है* कि अपना सुख कहां बसता है।

हमारे एक मित्र हैं। बड़े गुणी, सज्जन और विचारवान। अपने विद्यार्थीकाल से ही मेधावी रहे हैं। नौकरी के सिलसिले में एक दोराहे पर आ खड़े हुए। एक ओर बैंक की नौकरी थी और दूसरी ओर अखबारी रिपोर्टिंग। रिपोर्टिंग की तरफ रुझान था लेकिन वे इस बात से अनभिज्ञ नहीं थे कि इसमें गए तो दोपहर दफ्तर में और शाम-रातें प्रेस-क्लब में जाम चढ़ाते और रोमांचक कहानियां ढूंढते बीतेंगी। मतलब यह कि घर की जिन्दगी चौपट हो जाएगी। हमारे बंधु ने बहुत सोच-विचार के बाद यह खतरा न उठाकर बैंक की सधी-बंधी नौकरी को चुन लिया। तात्पर्य यह कि पुरुष हो या स्त्री—कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं रास्ते तय कर लेने का सवाल उसके सामने आ खड़ा होता है। जब वह एक रास्ता चुन लेता है तब उसके बाद रोते रहना नामर्दगी है—औरत के लिए भी और मर्द के लिए भी।

वास्तव में बिना दबाव के अपनी खुशी चुन लेने, उसके लिए लड़ने की ताकत जुटाने और अपनी पसंद से, अपने फैसले से कुर्बानी देने का समानाधिकार हर एक को मिलना चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह कहां हुआ कि अब बेगम साहबा सब पर अंगुलियां नहीं उठाएंगी और साहब हुजूर [illegible] पानी [illegible] नहीं आएंगे या दोस्तों के साथ बिना बीवी सिनेमा नहीं देखेंगे? [illegible] अर्थ लिए, उसकी बुद्धि तरस खाने लायक हो गई। उसके लिए [illegible] मापने का मन होता है कि इस भोले इंसान को सही रास्ता बता[illegible] आगे दलदल है और यह देख नहीं सकता।

छोटी-सी बड़ी समस्या

अपनी रिश्तेदारी में एक शादी होकर चुकी थी। लड़का अच्छे परिवार का था, और लड़की भी सम्भ्रांत कुल से थी। निकट सम्बन्धी होने के नाते रिश्ते की शुरुआत से, लेन-देन, दान-दहेज, गहना-कपड़ा, सबका खर्च और तैयारी नजदीक से देखनी पड़ी। उस दौरान कई बार चाहे-अनचाहे यह खयाल आया कि लड़के की शादी में खर्च का यह हाल है तो मैं तो तीन बेटियों की मां हूं। एक दिन मन में बेचैनी ज्यादा बढ़ी तो अपनी मां से जिक्र कर बैठी। उन्होंने कहा, "उनके एक ही तो लड़का है—शौक से सब कुछ कर रहे हैं। कोई रोज-रोज तो यह दिन आता नहीं।" ठीक कहा उन्होंने। फिर खयाल आया कि उन लोगों के एक लड़की भी तो है—शादी लायक। उसकी शादी किसी भी दिन तय हो सकती है। एक-दम दूसरा खर्च वे लोग कैसे उठाएंगे? इस सवाल का भी सरल-सा जवाब मेरी मां ने दे दिया, "बेटे के ब्याह में जो आया है, उसमें से बहुत-सा सामान ज्यों-का-त्यों बेटी को दे देंगे।" मेरी आधुनिक तर्क-बुद्धि जाग उठी। मैंने सोचा कि बस यहीं मेरी सरल-हृदया मां धोखा खा गईं। कौन बहू यह चाहेगी कि उसके पीहर से आया सामान उठाकर ननद को दे दिया जाए? यही कलह का कारण हो जाएगा और घर की शांति भंग कर जाएगा। लेकिन मैं फिर हार गई। समाज का मनोविज्ञान सहज ही आत्मसात् कर लेने वाली, दूरंदेशी और लोकनीति को अनुभव से पहचानने वाली मां बोलीं, "एक ही तो ननद है। बहू सोचेगी कि उसको खूब दे-दिवाकर यश कमा लूं। उसके बाद तो अपना राज्य है। और कोई जिम्मेदारी तीसरे पर है नहीं।"

उनकी यह बात इतनी तर्कसंगत थी कि मैं निरुत्तर हो गई। बिरादरी वालों का लड़के को इतना बढ़ा-चढ़ाकर देना, लम्बा-चौड़ा लेन-देन, इस सबपर मेरे भीतर जो एक झुंझलाहट थी, वह इस वाक्य से टकराकर टूट गई, 'एक ही

तो बेटा है।' साथ ही यह भी विचार आया कि किस तरह ननद का इकलौता होना एक बहू की उदारता को और सहजता से बढ़ाता चला जाएगा। यही चीज सास का मन जीत लेगी और एक वही घटना जो घर-घर में चूल्हे अलग करवा जाती है, इस घर को स्वर्ग बना जाएगी।

हमारे यहां चौका-बर्तन करने एक महरी आती है। एक क्या, बल्कि दो आती हैं—कभी सांवली, कभी गोरी। सांवली महरी का नाम है पच्छिमा और गोरी का लच्छिमा। सांवली उम्र की बड़ी है—उसके साथ कम-से-कम आधे दर्जन बच्चे चिल्ल-पों मचाते आते हैं और वह काम करती हुई बराबर उन्हें तेलुगु भाषा में डांटती-डपटती रहती है। लेकिन काम हंसती-हंसती कर जाती है और भूरे, काले, अधनंगे बच्चों की फौज बगल और पल्ले से लटकाए निकल जाती है। आए दिन उसे पेशगी चाहिए—या तो उसके बच्चा होने वाला है या कोई बच्चा बीमारी में आखिरी सांसें गिन रहा है। दो-एक साल मैंने उसके बच्चों की गिनती रखनी चाही लेकिन हारकर छोड़ दी। न जाने कब उनमें जमा-खर्च हो जाया करता था। लेकिन जब-जब गोरी लच्छिमा काम करने आई—वह साफ-सुथरे कपड़े पहने होती है, बाल सलीके से बंधे रहते लेकिन उसके काम की जरा-सी नुक्ताचीनी की नहीं कि वह आग-बबूला हो उठती है और चंडी का रूप धारण कर पैर पटकती फटाक से घर से बाहर निकल जाती है। पूछने पर पता चला कि दोनों एक ही आदमी की बीवियां हैं। लच्छिमा दूसरी बीवी है लेकिन उसका बच्चा नहीं है इसलिए उसका आदमी उसे बहुत मारता है। मेरी अक्ल चकरा गई। पिता बनने की भूख कितनी बड़ी है! पच्छिमा ही क्या वंश-बेल बढ़ाने को काफी न थी? दूसरी शादी और उसमें भी संतान पाने की ऐसी अदम्य इच्छा!

एक विदेशी पत्रिका में पढ़ा था कि कुछ विद्वानों ने एक प्रयोग किया। जमीन का एक टुकड़ा लेकर उसमें दस चूहे-दम्पति बसा रख दिए। उनके खाने-पीने की सारी सुविधाएं वहां मौजूद थीं। खुशहाल जिन्दगी का एक स्वर्ग उनके लिए बसाया गया। धीरे-धीरे उनकी वंश-वृद्धि हुई। निरीक्षण में आया कि सुविधाएं और जीवन-संघर्ष कम होने के कारण चूहों के बच्चे बहुत होशियार होते जा रहे हैं। उनके बिल अब ज्यादा मजबूत बनने लगे हैं। आपसी आदान-प्रदान सहानुभूतिपूर्ण है। एक चूहा बीमार पड़ता है तो सब उसकी तीमारदारी करने आते हैं। स्वस्थ और सुन्दर समाज की स्थापना हो रही है। लेकिन वंश-वृद्धि होती ही चली गई। खाना-पीना मिलता रहा लेकिन जगह उतनी ही रही। धीरे-धीरे चूहों की तादाद इतनी बढ़ गई कि वे चलते-फिरते एक-दूसरे से टकराने लगे। एक-एक बिल में कई-कई परिवारों को रहना पड़ा। और देखा गया कि चूहों में निर्दयता की भावना आ रही है। वे अपराधी होते जा रहे हैं। उन्होंने गुट बना लिए हैं और रात में अचानक एक-दूसरे पर हमला कर देते हैं—दूसरे गुट के बच्चों को

मार डालते हैं और उनकी चुहियों को जबरदस्ती उठाकर ले जाते हैं। दूसरों के बिल से दाना चुरा लाते हैं जबकि उनके अपने बिल में खाने की कोई कमी नहीं है। यही नहीं, उनमें यौन-विकृतियां बढ़ती जा रही हैं—वे समलिंग प्रेमी होते जा रहे हैं। रात-रात भर जागते हैं और सारे दिन सोते हैं। और फिर एक दिन सारे चूहों में एक भयानक युद्ध छिड़ गया। छः घण्टे की लगातार मार-काट के बाद सैकड़ों चूहों में पंद्रह चूहे ही जिंदा बचे। उनमें भी कोई अंधा हो गया था, कोई लूला-लंगड़ा, किसीके शरीर से खून बह रहा था और कोई प्यास और तकलीफ से चिल्ला रहा था।

प्रयोग के इस भयंकर नतीजे ने मुझे इतना आतंकित कर दिया कि जब मैं सड़क पर निकलती और कोई मुझसे टकरा जाता तो मेरे रोंगटे खड़े हो जाते। बस के लिए लगी लम्बी क्यू देखती तो जी घबरा उठता, तबीयत मिचला जाती। सोते-सोते लगता, जैसे छाती पर किसीने पत्थर रख दिया है। सपना देखती कि अणु-विस्फोट की छतरी की तरह पल-पल बढ़ते आत्माहीन शरीर हमारे सिर पर छाए हुए हैं। सुबह उठती तो लगता, हमें क्या हो गया है? हम किस गफलत की नींद में डूबे हुए हैं—कब जागेंगे? बिहारी का एक दोहा है:

"अति अगाध अति औथरो नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहां, जाकी प्यास बुझाय॥"

समाजशास्त्रियों का कहना है कि हर जीव को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए वायुमंडल के एक नियत टुकड़े की जरूरत होती है। जब धरती पर जीव इतने बढ़ जाते हैं कि उन्हें अपना निश्चित खंड नहीं मिल पाता तो वे दूसरों के व्यक्तित्व-क्षेत्र में घुसपैठ करने लगते हैं। इससे टकराहट पैदा होती है और इंसान का व्यक्तित्व टूटने लगता है। अस्तित्व बार-बार रगड़ खाता है—उद्विग्न हो उठता है। तब वह ऐसे काम करता है जो अशोभनीय हैं, समाज-विरोधी हैं। यह आकाश यों तो इतना बड़ा है लेकिन इसका हर अंश सबके लिए बराबर बंटा हुआ है। जब कोई मेरे आकाश के नीचे पसरने लगता है तो मेरा दम घुटने लगता है, जैसे एक मन में जब हजार सवाल, लाखों भाव एकसाथ आकर शोर मचाने लगते हैं तो बुद्धि बहरी हो जाती है—अपना संतुलन खो बैठती है। तब मनुष्य कवि से शब्द लेकर कहता है:

"मेरा आकाश छोटा हो गया है
मुझे नींद नहीं आती।"

संयुक्त परिवार : एक मीठी कसक

अंग्रेजी के जाने-माने लेखक आर्थर केस्लर ने अपनी पुस्तक 'लोटस एण्ड द रोबोट' में लिखा है कि भारत में एक महोदय के घर जाने पर केस्लर ने उन्हें सिगरेट पेश की, तो उन्होंने लेने से इंकार कर दिया। केस्लर को हैरानी हुई, क्योंकि यही महोदय कुछ समय पहले मजे में सिगरेट फूंक रहे थे। कारण पूछने पर पता लगा कि वह घर में पिताजी के सामने सिगरेट नहीं पीते। केस्लर ने प्रश्न किया कि जब वे नहीं रहेंगे तो आप आराम से, आजादी से सिगरेट पी सकेंगे? जवाब मिला—'बेशक'। केस्लर के वैचारिक कम्प्यूटर ने तुरत हिसाब लगाया कि कहीं-न-कहीं मन की किसी तह में ये सज्जन अपने पिता की मृत्यु की प्रतीक्षा में हैं।

यह एक अतिभिज्ञ दृष्टि की अति हो सकती है, लेकिन इसमें इंकार नहीं किया जा सकता कि संयुक्त परिवार में रहना हर क्षण विभिन्न तौर-तरीकों और विपरीत दृष्टिकोणों की साझेदारी का हिसाब-किताब बैठाना है। अकसर यह माप-तौल करते-करते व्यक्ति झुंझलाहट के ऐसे असाध्य मोड़ पर पहुंच जाता है जहां एक कदम भी आगे बढ़ना उसके लिए असम्भव हो जाता है और वह अपना चूल्हा अलग कर अपनी खिचड़ी आप पकाने पर मजबूर हो जाता है। उस क्षण की जली खिचड़ी भी उसे खीर का स्वाद देती है, क्योंकि वह आत्मनिर्भर हो चुका है—स्वाधीनता के लिए कोई मूल्य चुकाना उसे भारी नहीं जान पड़ता।

सभ्यता के प्रारंभिक पृष्ठ पलटें तो हम पाएंगे कि इंसान ने परिवार की नींव 'भय' के आधार पर रखी थी। ताकतवर भुजाओं का सहारा लेकर, पत्थरों के उल्टे-सीधे औजार पैनाए वह हर सुबह शिकार की खोज में निकल जाता था। दिन-भर जानवरों और चिड़ियों को मारता घूमता था। शाम को थका-हारा जब गुफा में लौटता तो वहां औरतों और बच्चों को सही-सलामत पाने का कोई

आश्वासन उसे प्राप्त नहीं था। रात को जब जंगली हवाएं गुफा के बाहर चीखती चलतीं और अंधेरा सांय-सांय करता हुआ गुफा में समुद्र की तरह उमड़ आता तो वहां इकट्ठे सारे लोग डरकर एक कोने में सिमट आते और सुबह का सूरज निकलने पर उसको प्रणाम करते कि एक रात की जिन्दगी उन्हें और बख्शी गई। खुशी के क्षण हमें उतने पास नहीं लाते जितने एकसाथ झेले गए दुख या खतरे के। धीरे-धीरे हम साथ रहनेवालों में एक स्वाभाविक अपनापन बढ़ता गया। समझदार मनुष्य ने कमजोर और शक्तिवान व्यक्ति की सीमाओं और सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें अलग-अलग तरह की जिम्मेदारियां बांट दीं। सुरक्षा की एक-सी आवश्यकता ने समाज की नींव डाली। धीरे-धीरे रिवाज बनने लगे—भावात्मक, शारीरिक, व्यक्तिगत, फिर सामाजिक और अंत में कानूनी।

एक परिवार में कितने भी व्यक्ति हों, उन्हें बांधने वाली एक ही चीज है कि वे एक-दूसरे की जरूरत को कितना पूरा कर पाते हैं। हर व्यक्ति मूलतः स्वार्थी है। यदि उसे कुछ प्राप्त नहीं तो वह भी कुछ देने को तैयार नहीं। यों तो स्वार्थ की सीमा का भी मनचाहा विस्तार किया जा सकता है। वह संकरी-से-संकरी और चौड़ी-से-चौड़ी हो सकती है। मां जब बीमार बच्चे को गोद में लिए सारी रात एक करवट आंखों में काट देती है, तो वह भी उसका अपना स्वार्थ है। वह रातों-रात इसलिए नहीं जागती कि वह उसकी जिम्मेदारी है, उसे निभानी ही होगी, बल्कि इसलिए कि उसकी आंखों की नींद उड़ गई है, उसकी भूख-प्यास बच्चे की तपती देह से झुलस गई है और उसे न सोने, न खाने में ही राहत मिल रही है। मुसीबत तो यह है कि मनुष्य वास्तविकता का दर्पण अपने सामने हर समय नहीं रख पाता। बड़े-बूढ़े अकसर जमाने की शिकायत करते हुए कहते हैं कि उन्होंने अपने बेटों को पढ़ाया-लिखाया, कितनी-कितनी मुसीबतें उठाकर उन्हें दुनिया का हर सुख-चैन दिलाया और आज 'नालायक' पलटकर उनकी ओर देखते तक नहीं। उस समय उनसे यदि कहा जाए कि 'बुजुर्गवार, आपने जो इन नालायकों के लिए किया, वह एक पिता ने अपने बच्चों के लिए किया। वह आपने खुद अपने लिए किया था, क्योंकि उसे किए बिना आपको आंतरिक सुख न मिलता,' तो शायद नाराज हो जाएं।

असलियत यह है कि समझौता जरूरी है। जब इंसान को जिन्दा रहने के लिए अपने से समझौता करना पड़ता है तो औरों की तो बात ही क्या? समझौते किसी हद तक तो 'कुछ तुम बढ़ो, कुछ हम बढ़ें, वाली बात है, लेकिन आखिर में जाकर एक ऐसा बिन्दु आता है जहां एक-न-एक को अधिक झुकना पड़ता है और यही मुसीबत की जड़ है। भारतीय परिवारों में रीतियां और नीतियां सदा से ही मजबूत रही हैं। जो घर में सबसे बड़ा है, उसकी बात टालना ठीक नहीं समझा जाता था। चूल्हे का क्षेत्र मां का, कपड़ों-लत्तों का बहुओं का, कमाना काम बेटों

का और खर्च तय करना अनुभवी पिता का क्षेत्र था। सारे बेटे एक खेत जोतते थे या एक जमींदारी की देखभाल करते थे। सबकी कमाई सबकी थी, रहन-सहन का तौर-तरीका एक-सा था—एक ही बैठक, एक रसोई, सबके बच्चों के लिए एक अलग सोने का कमरा। आपस में बेहद लिहाज था। बड़े का, छोटे का, उठने-बैठने, बोलने-चालने का नियत कायदा था। एक निर्धारित चौखटा था जिसमें हर रिश्ते की कील सही जगह ठुकी थी। कोई अपनी लीक से हटने की कोशिश करता तो या तो सारा परिवार उसपर दबाव डालकर उसे सीधा कर लेता था या अपने दायरे से अलग कर देता था। वैसे उनकी जरूरतें भी आज के अनुपात में संक्षिप्त और काफी सपाट थीं।

जमाने के साथ-साथ जरूरतें बदलती चली जाती हैं। सिर्फ जरूरतें ही क्यों, मूल्य भी कुछ-के-कुछ हो जाते हैं। आज एक पिता के चार बेटों में एक साहित्यकार हो जाता है तो दूसरा इंजीनियर, तीसरा डॉक्टर और चौथा व्यापारी। उनके काम का वक्त अलग है, ढंग अलग है, उनकी मित्र-मंडली अलग-अलग है, उनकी परिचर्या अलग-अलग स्वभावों की हैं, एक भाई सादगीपसन्द है तो दूसरा दीवारों और छतों को नीले-पीले रंगों में सजाकर घरको 'किस्कोपेक' बना डालना चाहता है। एक की पत्नी काम से थकी-थकाई लौटकर रात को किताब पढ़ती हुई दस बजे बत्ती गुल कर देना चाहती है, तो दूसरे की पत्नी सारे दिन के घरेलू काम से ऊबी बारह बजे तक गप्प लगाना चाहती है। एक पूरब को जाता है तो दूसरा पश्चिम को। एक को हरी सब्जी का चस्का तो दूसरे का ग्रास भुने गोश्त के बगैर गले से नीचे नहीं उतरता। अब कैसे चले एक बैठक और एक रसोई से काम? हरेक को एक स्वतन्त्र छत की जरूरत महसूस होने लगती है। जहां तक दुख-दर्द बांटने का सवाल है—हंसी-खुशी में शामिल होने की बात है, या एक-दूसरे के बच्चों की यदा-कदा देखभाल की जरूरत है, तो वह अलग-अलग रहते हुए भी संभव है। आज का युग व्यक्तित्व को संवारने का युग है। बड़े खानदानों में जहां एक ओर सबके कष्ट बांटने से अपने दुख होते दिखाई देते हैं, वहीं हरेक की समस्या अपने गले पड़ने का खतरा भी बना रहता है। खिचाव और तरफदारियों के सच्चे-झूठे वहम व्यर्थ ही रिश्तों की मिठास में कड़वाहट घोलते रहते हैं। छोटी और बड़ी आमदनियां दिल जलाती हैं, दूसरे की तरक्की बिना बात खुद का मजाक उड़ाती जान पड़ती है।

आज जिन्दगी की पेचीदगी कुछ ऐसी बढ़ी है कि बड़े-बूढ़ों की शिक्षाएं अब मरहम का काम नहीं कर पातीं और इंसान दिन-प्रतिदिन अकेला, और अकेला होता चला जा रहा है। जीवन एक नई पहेली, नई मुश्किल बनकर सामने आ खड़ा हुआ है। इस मुश्किल से उसे अकेले जूझना होगा—नये तरीकों को अपनाना होगा, और शायद यह वह तब तक न कर पाए जब तक पुरानी लीकों के बोझ से—

आश्वासन उसे प्राप्त नहीं था। रात को जब जंगली हवाएं गुफा के बाहर चीखती चलतीं और अंधेरा सांय-सांय करता हुआ गुफा में समुद्र की तरह उमड़ आता तो वहां इकट्ठे सारे लोग डरकर एक कोने में सिमट आते और सुबह का सूरज निकलने पर उसको प्रणाम करते कि एक रात की जिन्दगी उन्हें और बख्शी गई। खुशी के क्षण हमें उतने पास नहीं लाते जितने एकसाथ झेले गए दुख या खतरे के। धीरे-धीरे हम साथ रहनेवालों में एक स्वाभाविक अपनापन बढ़ता गया। समझदार मनुष्य ने कमजोर और शक्तिवान व्यक्ति की सीमाओं और सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें अलग-अलग तरह की जिम्मेदारियां बांट दीं। सुरक्षा की एक-सी आवश्यकता ने समाज की नींव डाली। धीरे-धीरे रिवाज बनने लगे---भावात्मक, शारीरिक, व्यक्तिगत, फिर सामाजिक और अंत में कानूनी।

एक परिवार में कितने भी व्यक्ति हों, उन्हें बांधने वाली एक ही चीज है कि वे एक-दूसरे की जरूरत को कितना पूरा कर पाते हैं। हर व्यक्ति मूलतः स्वार्थी है। यदि उसे कुछ प्राप्त नहीं तो वह भी कुछ देने को तैयार नहीं। यों तो स्वार्थ की सीमा का भी मनचाहा विस्तार किया जा सकता है। वह संकरी-से-संकरी और चौड़ी-से-चौड़ी हो सकती है। मां जब बीमार बच्चे को गोद में लिए सारी रात एक करवट आंखों में काट देती है, तो वह भी उसका अपना स्वार्थ है। वह रातों-रात इसलिए नहीं जागती कि वह उसकी जिम्मेदारी है, उसे निभानी ही होगी, बल्कि इसलिए कि उसकी आंखों की नींद उड़ गई है, उसकी भूख-प्यास बच्चे की तपती देह से झुलस गई है और उसे न सोने, न खाने में ही राहत मिल रही है। मुसीबत तो यह है कि मनुष्य वास्तविकता का दर्पण अपने सामने हर समय नहीं रख पाता। बड़े-बूढ़े अकसर जमाने की शिकायत करते हुए कहते हैं कि उन्होंने अपने बेटों को पढ़ाया-लिखाया, कितनी-कितनी मुसीबतें उठाकर उन्हें दुनिया का हर सुख-चैन दिलाया और आज 'नालायक' पलटकर उनकी ओर देखते तक नहीं। उस समय उनसे यदि कहा जाए कि 'बुजुर्गवार, आपने जो इन नालायकों के लिए किया, वह एक पिता ने अपने बच्चों के लिए किया। वह आपने खुद अपने लिए किया था, क्योंकि उसे किए बिना आपको आंतरिक सुख न मिलता,' तो शायद नाराज हो जाएं।

असलियत यह है कि समझौता जरूरी है। जब इंसान को जिन्दा रहने के लिए अपने से समझौता करना पड़ता है तो औरों की तो बात ही क्या? समझौते में किसी हद तक तो 'कुछ तुम बढ़ो, कुछ हम बढ़ें, वाली बात है, लेकिन आखिर में जाकर एक ऐसा बिन्दु आता है जहां एक-न-एक को अधिक झुकना पड़ता है और यही मुसीबत की जड़ है। भारतीय परिवारों में रीतियां और नीतियां सदा से ही मजबूत रही हैं। जो घर में सबसे बड़ा है, उसकी बात टालना ठीक नहीं समझा जाता था। चूल्हे का क्षेत्र मां का, कपड़ों-लत्तों का बहुओं का, कमाना काम बेटों

का और खर्च तय करना अनुभवी पिता का क्षेत्र था। चारे बेटे एक खेत जोतते थे या एक जमीदारी की देखभाल करते थे। सबकी कमाई सबकी थी, रहन-सहन का तौर-तरीका एक-सा था—एक ही बैठक, एक रसोई, सबके बच्चो के लिए एक अलग सोने का कमरा। आपस मे बेहद लिहाज था। बडे का, छोटे का, उठने-बैठने, बोलने-चालने का नियत कायदा था। एक निर्धारित चौखटा था जिसमे हर रिश्ते की कील सही जगह ठुकी थी। कोई अपनी लीक से हटने की कोशिश करता तो या तो सारा परिवार उसपर दबाव डालकर उसे सीधा कर लेता था या अपने दायरे से अलग कर देता था। वैसे उनकी जरूरतें भी आज के अनुपात मे संक्षिप्त और काफी सपाट थी।

जमाने के साथ-साथ जरूरतें बदलती चली जाती हैं। सिर्फ जरूरतें ही क्यो, मूल्य भी कुछ-के-कुछ हो जाते है। आज एक पिता के चार बेटों में एक साहित्यकार हो जाता है तो दूसरा इजीनियर, तीसरा डॉक्टर और चौथा व्यापारी। उनके काम का वक्त अलग है, ढग अलग है, उनकी मित्र-मंडली अलग-अलग है, उनकी परिचर्या अलग-अलग स्वभावो की हैं, एक भाई सादगीपसन्द है तो दूसरा दीवारो और छतो को नीले-पीले रंगो से सजाकर घर को 'डिस्कोथेक' बना डालना चाहता है। एक की पत्नी काम से थकी-थकाई लौटकर रात को किताब पढती हुई दस बजे बत्ती गुल कर देना चाहती है, तो दूसरे की पत्नी सारे दिन के घरेलू काम से ऊबी बारह बजे तक गप्प लगाना चाहती है। एक पूरब को जाता है तो दूसरा पश्चिम को। एक को हरी सब्जी का चक्कर तो दूसरे का ग्रास भुने गोश्त के बगैर गले से नीचे नही उतरता। अब कैसे चले एक बैठक और एक रसोई से काम? हरेक को एक स्वतंत्र छत की जरूरत महसूस होने लगती है। जहा तक दुख-दर्द बांटने का सवाल है—हसी-खुशी मे शामिल होने की बात है, या एक-दूसरे के बच्चो की यदा-कदा देखभाल की जरूरत है, तो वह अलग-अलग रहते हुए भी संभव है। आज का युग व्यक्तित्व को सवारने का युग है। बडे खानदानों में जहां एक ओर सबके कष्ट बांटने मे अपने दुख होने दिखाई देते हैं, वही हरेक की समस्या अपने गले पडने का खतरा भी बना रहता है। खिचाव और तरफदारियों के सच्चे-झूठे वहम व्यर्थ ही रिश्तो की मिठास मे कडवाहट घोलते रहते हैं। छोटी और बड़ी आमदनिया दिल जलाती हैं, दूसरे की तरक्की बिना बात खुद का मजाक उड़ाती जान पड़ती हैं।

आज जिन्दगी की पेचीदगी कुछ ऐसी बढी है कि बडे-बूढो की शिक्षाएं अब मरहम का काम नहीं कर पाती और इंसान दिन-प्रतिदिन अकेला, और अकेला होता चला जा रहा है। जीवन एक नई पहेली, नई मुश्किल बनकर सामने आ खड़ा हुआ है। इस मुश्किल मे उसे अकेले जूझना होगा—नये तरीकों को अपनाना होगा, और शायद यह तब तक न कर पाए जब तक पुरानी लीकों के बोझ मे

लकवा लगा आधा अंग

अकसर पढ़े-लिखे और अपने को समझदार समझने वाले पुरुष कहते सुने जाते है कि स्त्री की दीन दशा की चर्चा बेकार बात है। वे अपनी पुष्टि में कुछ उदाहरण देते हैं—इंदिरा गांधी, भण्डार नायके और गोल्डा मेयर जैसी अनुभवी राजनीतिज्ञ, मैडम क्यूरी, वैलेंटीना, तेरेश्कोवा व एवरेस्ट-विजेता जूनकोतावे जैसी वैज्ञानिक, अंतरिक्ष-यात्री और साहसिक भ्रमणकारी, नोबेल पुरस्कार विजेता पर्ल बक। इन नामो के आधार पर उनका दावा है कि आज नारी को समाज मे आगे बढ़ने का पूरा अधिकार प्राप्त है। ऐसे असाधारण दृष्टान्त हमेशा रहे है। अपने ही देश मे गार्गी, लीलावती, रजिया सुलताना, नूरजहां मीराबाई, अहिल्याबाई, झासी की रानी आदि अनेक महत्त्वपूर्ण महिलाएं जन्म ले चुकी हैं किन्तु क्या इनके आधार पर हम सचमुच यह दावा कर सकते है कि भारत मे स्त्री की दशा कभी शोचनीय नही रही ? क्या इससे यह सिद्ध होता है कि भारत में पौष्टिक खुराक की कमी और उपेक्षा के कारण [illegible] की मृत्यु-संख्या पुरुषों से ज्यादा नही है ?

जगमगाते नामो की यह सूची सिर्फ इतना सिद्ध करती है कि अवसर मिलने पर औरत सब कुछ कर सकती है [illegible] है, वह पुरुष से कहीं भी हेय नही। लेकिन इससे इतना [illegible] है कि आज भी अनेक परिवारो मे लड़के के [illegible] जाता है और लडकी के पैदा होने पर [illegible] का समाज स्त्री के संदर्भ मे निरन्तर [illegible] तक कि जब स्त्री पुरुष के [illegible] ईंट ढोए, पत्थर कूटे, [illegible] है। कम आयु मे विवाह [illegible]

अनचाहे मातृत्व का बोझ उसे उम्र भर को रोगी बना जाता है। न जाने कितनी पीड़िताएं दुख की सीमा पर पहुंचकर आत्महत्या कर लेती हैं। ऐसे में क्या आश्चर्य कि दबी-ढकी सहमी कुछ स्त्रियां मानसिक कुंठाओं से ग्रस्त हो जाती हैं। किसीको भूत-प्रेत आने लगते हैं तो कोई मिर्गी में पछाड़ें खाने लगती है। अपने मन का गुबार वह चिल्लाकर, घर के बर्तन पटककर और बच्चों को पीटकर निकालती है। घर नरक बन जाता है। इसकी जिम्मेदारी, यह पगलाई, बौखलाई स्त्री है या वे परिस्थितियां; जो उसे अपने ही घर में मोल ली हुई दासी से ज्यादा जगह नहीं देतीं ? नारी पुरुष की अर्धांगिनी है। अगर किसीके आधे अंग पर फालिज गिर जाए तो उसका क्या हाल होगा ? क्या फिर भी वह पूर्ण कहलाएगा ?

सामाजिक इतिहास पर दृष्टिपात करने पर स्त्री का अपना व्यक्तित्व धीरे-धीरे समाज में समाप्त होता दिखाई देता है। वह कुछ भूमिकाओं के चौखटे में जड़ दी जाती है—बेटी, बहन, मां, पत्नी, बहू। उससे उम्मीद की जाती है कि वह इन भूमिकाओं को आदर्श रूप में निबाहे। वह त्याग की प्रतिमूर्ति हो जाए और इसके बदले में समाज उसे देवी बनाकर ऊंचे-ऊंचे शब्दों के सिंहासन पर बिठा देगा। वह सती सावित्री है, सीता-सी पतिव्रता है लेकिन इस सीता-सावित्री के पति को राम या सत्यवान बनने की किसी शर्त से बंधना नहीं पड़ता।

यह स्थिति ज्यादा देर तक बनी नहीं रह सकती थी। उन्नीसवीं-बीसवीं सदी सारी दुनिया के लिए नई करवटों का समय था। क्रान्तिकारी विचारों के ज्वालामुखी फूट रहे थे। अपने देश में भी समाज-सुधारकों ने साफ कहा कि जब तक भारतीय स्त्री की दशा नहीं सुधरती, इस देश का अंधकार दूर नहीं हो सकता। देश के स्वाधीनता-संग्राम में गांधीजी ने भारत की नारियों को घर से निकाल पुरुष के कंधे-से-कंधा मिलाकर चलने के लिए ललकारा। उनका शांतिपूर्ण असहयोग आन्दोलन स्त्री की मृदु और दृढ़ प्रकृति के इतना अनुकूल था कि वह 'भारतीय अबला' के हाथ में विस्फोटक बम-सा शक्तिशाली सिद्ध हुआ। इन तमाम समाज-सुधारकों के आन्दोलनों के बावजूद भारत की स्त्री को वोट देने का अधिकार तो मिल गया, लेकिन अपने परिवार में उसे यह तय करने का अधिकार नहीं मिला कि आज कौन-सी दाल पकाई जाए।

इस स्थिति का कारण है हमारा वह लम्बा अतीत जिसने हमारे दिल-दिमाग को दमघोंट शिकंजे में जकड़ा हुआ है। हमने औरत को इंसान की तरह देखना बन्द कर दिया है। उसे घर की रानी की पदवी तो दे दी है, लेकिन पति की जूठी थाली में बचे-खुचे कौर निगलने को छोड़ दिया है। चूल्हे से बांधकर अन्नपूर्णा तो कहा है, लेकिन यह देखने की तकलीफ गवारा नहीं की कि उसकी रसोई में धुआं निकलने की खिड़की भी है या कि वह धुआं उसके फेफड़ों पर जहरीले नाग की तरह बैठता जा रहा है। समाज यह नहीं समझता कि स्त्री को महत्त्व न देना

खुद अपनी उपेक्षा करना है।

एक बार गोपाल कृष्ण गोखले से प्रिंस ऑफ वेल्स ने कहा कि "आपके देश में कई महीने भ्रमण करने के बाद मैंने पाया कि जितने खुश भारतीय हैं उतने खुश लोग दुनिया में कम ही देखने में आते हैं। अगर यहां भारतीय शासन हो जाए तो क्या ये और ज्यादा खुश दिखाई देंगे ?" गोखले ने उत्तर दिया, "मैं, ज्यादा खुशी की गारंटी नहीं देता लेकिन इनके चेहरों पर ज्यादा आत्मसम्मान दिखाई देगा।" इसपर प्रिंस ऑफ वेल्स बोले, "हो सकता है ! लेकिन जब तक भारतीय पुरुष अपना व्यवहार अपनी महिलाओं के साथ नहीं बदलेंगे तब तक उनमें आत्मसम्मान आना मुश्किल लगता है।" गोखले इस लांछन को अस्वीकार न कर सके।

इस हालत के लिए सिर्फ पुरुष को ही जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। नारी खुद इतनी दब्बू है कि अपनी लगी-बंधी भूमिका की लक्ष्मण-रेखा से बाहर कदम रखते डरती है। सदियों से हीन-भावना ने उसपर इतना जबर्दस्त पहरा बिठाया है कि वह अपनी संभावनाओं को खुद नहीं पहचानती। वह पुरुष से इतनी आतंकित है कि पुरुष को गलत कदम उठाते देखकर भी उसकी जबान खोलने की हिम्मत नहीं होती। वह बच्चे को नौ माह गर्भ में रखती है, उसकी एक आवाज पर जागती और सोती है। लेकिन बच्चे के भविष्य को तय करने का सवाल जब उठता है तब उससे सलाह लेने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। बेटी का ब्याह हो या बेटे की पढ़ाई या बेटे की नौकरी का निर्णय, मां को किसी लायक नहीं गिनता। मां भी अपने मत को मूर्खतापूर्ण मानती है और यह कहकर अलग हो जाती है कि "ये मर्दों की बातें हैं, इन्हें वे ही जानें।"

अगर कहीं कोई किस्मत की मारी औरत इन मामलों में बोल उठी तो उसकी शामत आ जाती है। अकसर औरत की सबसे बड़ी दुश्मन औरत खुद बन जाती है। पहले तो उसकी सास, ननदें, आस-पड़ोसन, उसे आड़े हाथों लेंगी। उनसे ही उसका यह बुखार न उतरा और बात बाहर पहुंच गई तो पुरुष की मर्दानगी चोट खाए सांप की तरह फुफकारने लगेगी। डांट-फटकार से भी औरत काबू में न आई और अपने बच्चे की भलाई के लिए झंडा उठाकर खड़ी हो गई तो डंडा तो कहीं गया नहीं। स्त्री पुरुष की सम्पत्ति है। वह उसे जैसे चाहे काबू में रखे और पुरुष यह अच्छी तरह जानता है कि मार के आगे भूत भागते हैं।

अपने समाज में अनेक तबके हैं। अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, विकसित-अविकसित, और शहरी किन्तु औरत की पशुवत् दशा, कमोबेश अधिकांश परिवारों में एक-सी पाई जाती है। भारत ही नहीं, विदेशों में भी, जहां आधुनिकता की चमक-दमक आंखों को चौंधिया देती है, स्त्री को समाज में द्वितीय स्थान प्राप्त है। अमेरिकी महिलाएं अरसे तक स्वयं को अन्य स्त्रियों से ज्यादा सुविधा-प्राप्त समझती रहीं। यहां तक कि उनपर अपने पुरुषों को कमजोर बनाने का

ने लगा । अचानक उन्होंने पाया कि वे एक ऐसे सुनहरे जाल में फंस ों साज-सिंगार और नये-नये उपकरणों की दौड़ में वे पागलों की तरह दौड़ रही हैं । लेकिन उन्हें वास्तविक सामाजिक और आर्थिक बराबरी ती है । परिणामस्वरूप अमेरिका की कुछ स्त्रियों ने पुरुषों के विरुद्ध जंग जिसमें उनका आक्रमण स्त्रीत्व के विशेष गुणों को छोड़ने से शुरू हुआ । की प्रसिद्ध लेखिका सिमोद द ब्यूवो इस प्रकार के युद्ध को मूर्खता मात्र ती हैं और कहती हैं कि जब तक संसार में उत्पादन-क्रांति नहीं आएगी, की दशा सुधरने वाली नहीं । रूस तक में, जहां एक शताब्दी पहले पत्नी की र्मावर्दारी पर पति हंटर उठाने से नहीं हिचकता था, आज उसे जो आजादी र खुशहाली मिली है, वह क्या जनक्रान्ति के बिना संभव थी ? समाजशास्त्री सन सांटेंग के अनुसार, "मुक्ति ही शक्ति का दूसरा नाम है।" जब तक स्त्री पने अधिकारों को नहीं पहचानेगी, उसको पानेकी कोशिश नहीं करेगी, जापानी स्त्री की तरह बोझ उठाए, पति से दो कदम पीछे हटकर चलती रहेगी ।

जब स्त्री स्वयं कमाती है तो वह सहज रूप से अधिक स्वाधीन महसूस करती है । घर के बाहर अन्य लोगों के साथ मिलकर कुछ करने में उसे एक पूर्णता का अनुभव होता है जो सिर्फ घर का काम करके उसे नहीं मिलता । यह सुख का भाव उसकी मानसिक संतुष्टि के द्वारा परिवार के सब सदस्यों को सुख प्रदान कर सकता है । इसके अतिरिक्त परिवार के भरण-पोषण में उसकी आर्थिक सहायता उसे आदर दिलवाती है । हिमाचलप्रदेश के कुछ पहाड़ी क्षेत्रों में दुलहन पाने के लिए वर दहेज देता है । यों भी छोटे गांवों में और तथाकथित निम्नवर्ग में स्त्री काफी खुदमुख्तार है । गांवों में स्त्री और पुरुष के कामों में विभेद भी शहरी परिवारों से कम है । निम्नवर्ग में पुरुष की मारपीट या ज्यादतियों पर औरत अपने पति से नाता तोड़ सकती है और किसी दूसरे के घर बैठ सकती है, उसका समाज उसे यह अधिकार देता है, क्योंकि वह अपनी और अपने बच्चों की रोटी के लिए पति की मोहताज नहीं है ।

दूसरा वर्ग उन स्त्रियों का है जो सही अर्थों में शिक्षित हैं । वे अपनी कुव को समझती हैं, अपने व्यक्तित्व को कुचले जाने से बचाती हैं और परिवार अपना मूल्य अच्छी तरह सिद्ध कर पाती हैं । उनके पति उनकी सलाह की इ करते हैं और बच्चे अपने विकास के लिए उनपर निर्भर होते हैं । अनहोनी कठिन परिस्थितियों में ये स्त्रियां कानून की मदद लेकर अपना हक पा जिन्दगी को खुशी की मोहलत देने की ताकत रखती हैं । कुछ पुरातनपंथी यह कहते सुने जाते हैं कि "ये नई आजादी और नई रोशनी हमें ले डूबेगी तो औरतें बात-बात पर मर्दों को तलाक देंगी ।" वे भूल जाते हैं कि व आप अपना घोंसला कभी नहीं उजाड़ती । अगर आंकड़ों पर भी जाएं तो

कि तलाक-कानून के आने पर शुरू में अधिक विच्छेद हुए। लेकिन कुछ ही सालों के भीतर उनकी संख्या घट गई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिक्षा, व्यक्ति को निर्भय और आत्मविश्वासी बनाती है। उसे हीनता की भावना से बचाती है और अंधविश्वासों को तोड़ती है। फिर भी दुख तो यह है कि अभी तक कई पिछड़े हुए क्षेत्रों में लड़कियों के लिए शिक्षा का कोई प्रबन्ध तक नहीं है। स्त्रियों की साक्षरता की गति पुरुषों के मुकाबले बहुत धीमी है। १९०१ में डेढ़ करोड़ शिक्षित पुरुषों के मुकाबले १० लाख शिक्षित स्त्रियां थी। ७० साल बाद ११ करोड़ पुरुषों ने शिक्षा पाई लेकिन स्त्रियों में कुल ५ करोड़ ही शिक्षित हो सकी।

वास्तव में स्त्री और पुरुष दोनों ही वर्तमान स्थिति के लिए जिम्मेदार हैं और उन दोनों को मिलकर स्त्री को समाज में उसका उचित स्थान दिलवाना पड़ेगा वर्ना कानून बनते रहेंगे ; सुधरते रहेंगे; उनमें दहेज, कम आयु में विवाह आदि का निषेध होता रहेगा। कानून की पोथियों में स्त्री को पुरुष के अत्याचार से बचने के लिए तलाक और पिता की सम्पत्ति में जवानी अधिकार मिलते रहेंगे, लेकिन औरत अपने गढ़े में पड़ी-पड़ी सोचती रहेगी कि पति से पूछे बिना दान चढ़ाऊं या नहीं ?

समाज : साहित्य : दायित्व
महिला सृजनकार

आधुनिक समाज में लेखिकाओं का दायित्व—यह प्रश्न उठते ही, दो प्रति-प्रश्न मन में जाग उठते हैं। एक तो यह कि क्या महिला साहित्यकार का दायित्व, समाज के प्रति, पुरुष साहित्यकार से कुछ भिन्न होता है? और दूसरा यह कि क्या साहित्यकार हमेशा अपने समाज से प्रतिबद्ध होकर लिखता है?

दूसरे सवाल को पहले लिया जाए क्योंकि वह एक शाश्वत सवाल है। जब से साहित्य का सृजन आरंभ हुआ है, बराबर यह बहस जारी रही है कि साहित्य का प्रयोजन क्या है? क्या साहित्य मात्र आत्माभिव्यक्ति है अथवा वह समाज का प्रतिबिम्बन है? यह भी कि क्या साहित्य दर्पण से कुछ और भी आगे बढ़कर काम नहीं करता? क्या सही रास्ता दिखाना भी उसका दायित्व नहीं है? भरत मुनि से लेकर आज तक यह विवाद चला है। उधर पश्चिम में भी अरस्तु और प्लेटो से लेकर एक ओर आज का मार्क्सवादी, और दूसरी ओर अस्तित्ववादी आलोचक इस रेशमी गुत्थी को सुलझाने में व्यस्त हैं। वास्तव में यह बहस किसी हद तक एक निरर्थक बहस है। व्यक्ति एक इकाई होते हुए भी निरन्तर समाज के समुद्र के बीच स्थित एक टापू की तरह जीता है। उसका अस्तित्व, रूप-रंग, बनावट इस बात पर निर्भर करती है कि समुद्र की लहरें उसके साथ कैसा वर्ताव कर रही हैं। कभी ऊंची तेज तरंगों से उसके किनारे कट-कटकर बहने लगते हैं और कभी वही लहर उसे भिगो-भिगोकर उसपर मूंगे की चट्टानें बना जाती है। इंसान अपने साहित्यकार को सुरक्षित करके चारदीवारी में कितना भी क्यों न घेर ले, उसका टकराव समाज से हर स्तर पर होता रहता है। उसका जन्म जिस परिवार में हुआ, जिस युग और जिस देश में हुआ—यह सब उसकी विचारधारा और अनुभूतियों को ढालने की भट्ठियां सिद्ध होती हैं। यह जरूर है कि कोई अत्याचार और

अनाचार में समझौता कर लेता है तो कोई उससे लड़कर प्राण देने की ताकत रखता है। लेकिन है वह अत्याचार के लिए प्रतिक्रिया ही और यह अत्याचार समाज में स्थित एक बाहरी स्थिति है। यही कारण है कि तुलसीदास का स्वांत: सुखाय रचित रामचरित मानस आज भी लाखों के लिए समाज और नीतिशास्त्र का चरम बिंदु है और मीरा की एकांत प्रेम-साधना इस अविश्वास और अश्रद्धा के युग में मन को झंकृत करने की क्षमता रखती है। कोई भी साहित्यकार यह दावा नहीं कर सकता कि मैं समाज से कोई वास्ता नहीं रखता—मैं उसमें पूरी तरह निरपेक्ष हूं।

अब प्रश्न उठता है कि क्या स्त्री और पुरुष की प्रतिक्रियाएं इतनी अलग होती हैं कि महिला साहित्यकारों में कुछ और अपेक्षा रहती है तथा पुरुष साहित्यकारों से कुछ और ? यों उनकी मूलभूत संवेदना में कोई अन्तर नहीं होता लेकिन असलियत यह है कि भारतीय समाज में स्त्री और पुरुष के क्षेत्रों की विभिन्नता के कारण उनके साहित्यिक विषयों की सीमा किसी हद तक बंटी है। स्त्रियां अपने परिवार और घर से ज्यादा बंधी हुई हैं। उनके साहित्य में पारिवारिक सम्बन्धों के बदलाव का जिक्र बार-बार उभरता है। पुरुष और स्त्री के सम्बन्धों को भी वे अधिक आत्मकेन्द्रित दृष्टि से देखती हैं, क्योंकि अधिकांश की दुनिया पति के चारों ओर घूमती है। पति को धुरी बनाकर उसके मध्य से वे दुनिया को छूती हैं। अधिकतर जीवन की कटुता से उनका सीधा और वैसा साक्षात्कार नहीं होता जैसा उनके पति, भाई या बेटे का होता है।

यह सही है कि लेखिका वर्ग स्वाभाविक रूप में शिक्षित भारतीयताओं का वर्ग है। *उनमें अधिकांश महानगरों या बड़े शहरों में रहने वाली महिलाएं हैं।* उन्हें भी बसों की लम्बी कतारों में खड़ा होना पड़ता है। धक्कमपेल करके अपने शरीर को सहेजते बचाते, अपनी मंजिलों पर पहुंचना पड़ता है। कॉलिज में दाखिला लेना हो या नौकरी की तलाश—उनके सामने भी उसी तरह प्रतियोगिता से भरा वातावरण है, स्पर्द्धा है और असफलताएं हैं। देखना यह है कि महिला साहित्यकार का साहित्य इन वास्तविकताओं को अपने लेखन में कितनी सच्चाई, ईमानदारी और तीव्रता से उतार पाता है।

जहां तक ईमानदारी और सच्चाई का सवाल है, इसमें दो राय न होंगी कि महिलाएं जिन्दगी में गलत कामों में समझौता अधिकतर नहीं करतीं। यह मानी हुई बात है कि महिला वकील अधिक ईमानदार होती है। उद्योग और व्यवसाय के क्षेत्र में भी वे काला धंधा नहीं करतीं। महिला डॉक्टर ज्यादा मेहनती होती है और लड़कियों के कॉलिजों में भी दूसरे कॉलिजों की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप से पढ़ाई करवाई जाती है। अपने-आपको बहुत चतुर समझने वाले कुछ व्यक्ति इसका कारण यह बताते हैं कि महिलाएं स्वभाव से भीरु होती हैं। उनमें एडवेंचर की कमी होती है और आगे बढ़कर लाभ उठाने की हिम्मत नहीं होती। इसलिए

समाज : साहित्य : दायित्व
महिला सृजनकार

आधुनिक समाज में लेखिकाओं का दायित्व—यह प्रश्न उठते ही, दो प्रति-प्रश्न मन में जाग उठते हैं। एक तो यह कि क्या महिला साहित्यकार का दायित्व, समाज के प्रति, पुरुष साहित्यकार से कुछ भिन्न होता है? और दूसरा यह कि क्या साहित्यकार हमेशा अपने समाज से प्रतिबद्ध होकर लिखता है?

दूसरे सवाल को पहले लिया जाए क्योंकि वह एक शाश्वत सवाल है। जब से साहित्य का सृजन आरंभ हुआ है, बराबर यह बहस जारी रही है कि साहित्य का प्रयोजन क्या है? क्या साहित्य मात्र आत्माभिव्यक्ति है अथवा वह समाज का प्रतिबिम्बन है? यह भी कि क्या साहित्य दर्पण से कुछ और भी आगे बढ़कर काम नहीं करता? क्या सही रास्ता दिखाना भी उसका दायित्व नहीं है? भरत मुनि से लेकर आज तक यह विवाद चला है। उधर पश्चिम में भी अरस्तु और प्लेटो से लेकर एक ओर आज का मार्क्सवादी, और दूसरी ओर अस्तित्ववादी आलोचक इस रेशमी गुत्थी को सुलझाने में व्यस्त हैं। वास्तव में यह बहस किसी हद तक एक निरर्थक बहस है। व्यक्ति एक इकाई होते हुए भी निरन्तर समाज के समुद्र के बीच स्थित एक टापू की तरह जीता है। उसका अस्तित्व, रूप-रंग, बनावट इस बात पर निर्भर करती है कि समुद्र की लहरें उसके साथ कैसा बर्ताव कर रही हैं। कभी ऊंची तेज तरंगों से उसके किनारे कट-कटकर बहने लगते हैं और कभी वही लहर उसे भिगो-भिगोकर उसपर मूंगे की चट्टानें बना जाती है। इंसान अपने साहित्यकार को सुरक्षित करके चारदीवारी में कितना भी क्यों न घेर ले, उसका टकराव समाज से हर स्तर पर होता रहता है। उसका जन्म जिस परिवार में हुआ, जिस युग और जिस देश में हुआ—वह सब उसकी विचारधारा और अनुभूतियों को ढालने की भट्ठियां सिद्ध होती हैं। यह जरूर है कि कोई अत्याचार और

अनाचार से समझौता कर लेता है तो कोई उससे लड़कर प्राण देने की ताकत रखता है। लेकिन है यह अत्याचार के लिए प्रतिक्रिया ही और यह अत्याचार समाज में स्थित एक बाहरी स्थिति है। यही कारण है कि तुलसीदास का स्वांत: सुखाय रचित रामचरित मानस आज भी लाखों के लिए समाज और नीतिशास्त्र का चरम बिंदु है और मीरा की एकांत प्रेम-साधना इस अविश्वास और अश्रद्धा के युग में मन को झंकृत करने की क्षमता रखती है। कोई भी साहित्यकार यह दावा नहीं कर सकता कि मैं समाज से कोई वास्ता नहीं रखता—मैं उससे पूरी तरह निरपेक्ष हूं।

अब प्रश्न उठता है कि क्या स्त्री और पुरुष की प्रतिक्रियाएं इतनी अलग होती हैं कि महिला साहित्यकारों से कुछ और अपेक्षा रहती है तथा पुरुष साहित्यकारों से कुछ और ? यों उनकी मूलभूत संवेदना में कोई अन्तर नहीं होता लेकिन असलियत यह है कि भारतीय समाज में स्त्री और पुरुष के क्षेत्रों की विभिन्नता के कारण उनके साहित्यिक विषयों की सीमा किसी हद तक बंटी है। स्त्रियां अपने परिवार और घर से ज्यादा बंधी हुई हैं। उनके साहित्य में पारिवारिक सम्बन्धों के बदलाव का जिक्र बार-बार उभरता है। पुरुष और स्त्री के सम्बन्धों को भी वे अधिक आत्मकेन्द्रित दृष्टि से देखती हैं, क्योंकि अधिकांश की दुनिया पति के चारों ओर घूमती है। पति को धुरी बनाकर उसके मध्य में वे दुनिया को छूती हैं। अधिकतर जीवन की कटुता से उनका सीधा और वैसा साक्षात्कार नहीं होता जैसा उनके पति, भाई या बेटे का होता है।

यह सही है कि लेखिका वर्ग स्वाभाविक रूप से शिक्षित भारतीयताओं का वर्ग है। उनमें अधिकांश महानगरों या बड़े शहरों में रहने वाली महिलाएं हैं। उन्हें भी बसों की लम्बी कतारों में खड़ा होना पड़ता है। धक्कमपेल करके अपने शरीर को सहेजते बचाते, अपनी मंजिलों पर पहुंचना पड़ता है। कॉलिज में दाखिला लेना हो या नौकरी की तलाश—उनके सामने भी उसी तरह प्रतियोगिता से भरा वातावरण है, स्पर्धा है और असफलताएं हैं। देखना यह है कि महिला साहित्यकार का साहित्य इन वास्तविकताओं को अपने लेखन में कितनी सच्चाई, ईमानदारी और तीव्रता से उतार पाता है।

जहां तक ईमानदारी और सच्चाई का सवाल है, इसमें दो राय न होंगी कि महिलाएं जिन्दगी में गलत कामों से समझौता अधिकतर नहीं करतीं। यह मानी हुई बात है कि महिला वकील अधिक ईमानदार होती है। उद्योग और व्यवसाय के क्षेत्र में भी वे काला धंधा नहीं करतीं। महिला डॉक्टर ज्यादा मेहनती होती है और लड़कियों के कॉलेजों में भी दूसरे कॉलेजों की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप से पढ़ाई करवाई जाती है। अपने-आपको बहुत चतुर समझने वाले कुछ व्यक्ति इनका कारण यह बताते हैं कि महिलाएं स्वभाव से भीरु होती हैं। उनमें एडवेंचर की कमी होती है और आगे बढ़कर लाभ उठाने की हिम्मत नहीं होती। इसलिए

वे सधी-सधाई लीक पर चलती रहती हैं। वात सीधी-सी इतनी ही है कि उनकी मानवीय संवेदनाएं उन्हें स्वाभाविक नीति की सीमाओं से वाहर नहीं निकलने देतीं। क्या इसे स्वभाव की कायरता कहा जाएगा ? वास्तव में इसका छूट जाना ही आज का सबसे वड़ा संकट है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मार्गरेट मीड को भी भय हो जाता है :

"There is no guarantee that women through inherent qualities rather than experience will continue to be more conserting and cherishing than men."

(इसकी भी कोई गारंटी नहीं है कि स्त्रियां, अनुभव की अपेक्षा आंतरिक गुणों के वल पर, पुरुषों के मुकावले अधिक संरक्षण और संपोपण देने वाली वनी ही रहेंगी।)

भारत में यह भय भविष्य का हो सकता है, वर्तमान का नहीं। अभी तो स्त्रियों के साहित्य में हमें यह ईमानदारी दिखाई देती है। उनकी कहानियों में शिल्प और शैली के नयेपन और लदे हुए आधुनिक विन्यास की जगह अनुभूति और अनुभव का खरापन है। इसीलिए वे अधिक विश्वसनीय हैं और जो विश्वसनीय होता है, वह प्रभाव भी छोड़कर रहता है। आधुनिक कवयित्रियों का काव्य में विदेशी-युद्धों और रंग-भेद का विश्वव्यापी चित्र भले ही न हो लेकिन आसपास की जिन्दगी का सही आईना और उसके वीच में स्थित अपने व्यक्तित्व का अहसास वोलता है। एक नैसर्गिक सहनशक्ति के कारण उनके साहित्य में उस प्रकार की टूटन और निराशा का स्वर भी अपेक्षाकृत कम सुनाई पड़ता है जो कभी-कभी सृजनकार को निष्क्रिय वना जाता है। इसके अतिरिक्त महिला साहित्यकार अकसर दलवंदियों में नहीं पड़तीं। न वे झंडे गाड़ने की कोशिश करती हैं और न ही साहित्यिक मठाधीश वनने के लिए लालायित होती हैं। इस तरह उनका साहित्य गुटों की दलदल से वचा रहता है और सहज साहित्य का निर्माण करना उनके लिए अधिक संभव होता है।

हम जो कुछ भी लिखते हैं, रचते हैं—वह कहीं-न-कहीं हमारे वातावरण और परिवेश के घात-प्रतिघात का परिणाम होता है। इस तरह साहित्य की सामाजिकता कभी समाप्त होती ही नहीं। साहित्यकार किसी भी वर्ग या लिंग का हो, उसके साहित्य की सामाजिक उपादेयता रहती ही रहती है। यह जरूर है कि किसी सामाजिक वुराई को दूर करने के लिए, किसी सामाजिक दायित्व को निवाहने के लिए वह सचेतन रूप से साहित्य की रचना न करे। प्रच्छन्न रूप से जो वक्तव्य सामाजिक वुराइयों पर, नये नैतिक और व्यक्तिगत मूल्यों की स्थापना की आवश्यकता पर, उसके साहित्य में रेखांकित होंगे, वे अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण हैं। साहित्य की सवसे वड़ी शक्ति यह है कि उसकी अभिव्यक्ति हमारी अपनी

अभिव्यक्ति हो जाती है। उसके पात्रों के साथ हम कष्ट झेलते हैं, सुख झेलते हैं। इसीलिए उसपर हो रहा अन्याय हमें खुद पर होता अन्याय लगता है। दूसरे की मजबूरी जब अपनी मजबूरी बन जाती है तभी असल समझदारी और सहानुभूति का आरंभ होता है।

कौन-सा समाज समस्याओं से पटा नहीं होता? विकासशील देश की समस्याएं और भी दशमुखी और दैत्याकार होती हैं। जब परेशानियां अधिक बढ़ जाती हैं तो इंसान के पास दो ही रास्ते बच रहते हैं—या तो वह कमर कसकर आग बुझाने के लिए लपटों में कूद पड़े या अपने-आपको सब तरफ से समेटकर बिल्ली के सामने कबूतर की तरह आंखें मूंद ले और पलायनवादी हो जाए। जाहिर है कि पहला रास्ता जीवट वालों का और दूसरा हरैलों का है। महिला साहित्यकार इन दोनों स्थितियों की अति से हटकर चलती हैं। उन्होंने ऐसे साहित्य की रचना की है जिसमें आज के माहौल का सही खाका खिंचकर आया है। आर्थिक कारणों से पत्नी को नौकरी करने पर मजबूर होना पड़े या अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए स्त्री, मात्र पत्नी न रहकर अपने अस्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए घर से बाहर काम करने निकले—दोनों ही स्थितियां लेखिकाओं ने बार-बार उठाई हैं। इसी तरह पुरानी और नई पीढ़ी जिस परिवार में एकसाथ बसी हुई है, उसमें बीच की कड़ी के रूप में मां अपनी सास और अपने बेटी-बेटे के बीच किस तरह एक पुल का काम करती है, यह भी पढ़ने को मिलता है। लिजलिजे और भावुकता-भरे रोमांस के ऊपर उठकर पुरुष की सहचारिणी बनने की चाह लेखिकाओं की कलम से अंकित होती है। गहने, कपड़े, विदेशी सेंट में महकती पति के काले धंधे की कमाई पर इतराने वाली तथाकथित उच्चवर्ग की औरतों के जीवन का खोखलापन भी इनके साहित्य का विषय है। घर-घर काम करके किसी तरह परिवार का पेट पालनेवालियों का अशिक्षा और गरीबी से उपजा जीवन, उसका दर्द भी, इनकी कलम से छुपा नहीं है। स्त्री का शरीर किस तरह उसका सबसे बड़ा दुश्मन है—क्योंकि गरीब औरत पति, मालिक, पुलिस—सामाजिक अधिकार के अनेक दावेदारों के शिकंजे में बार-बार फंसती है—इसका क्रोध और यातना लेखिकाओं ने पहचाने, और अंकित किए हैं। नई पीढ़ी के साथ सहानुभूति रखने वाली सहिष्णु दृष्टि भी हमें इनमें मिलती है। दिखाई पड़ता है कि जहां पिता अपने बेटे को बड़ा अफसर बनाकर अपनी अपूर्ण महत्त्वाकांक्षा पूरी करना चाहता है, वहां उसकी मां की यह इच्छा रहती है कि मेरा बेटा कुछ ऐसा करके दिखाए जिससे बेटे के अस्तित्व का प्रतिफलन हो। यह युवा संतान के आदर्शवाद पर अपने पति की सी सिनिकल भावना नहीं रखती।

इन सारे विषयों को उठाना अपने-आपमें सामाजिक दायित्व को निबाहना है। जिस संघर्षण के बीच हम जी रहे हैं, उस चकमक पत्थर की टकराहट से

निरंतर आग की चिंगारियां निकलती रहती हैं। देखने में आता है कि लेखिकाएं, इस चिंगारी को परदाह व आत्मदाह का अस्त्र न बनाकर एक मोमबत्ती की लौ में सहेज लेती हैं। वे अंधेरे कोने को उजालने की कोशिश में हैं। यदि हर घर में रोशनी हो जाए तो दाहक मशाल की जरूरत ही क्या?

सितारों से आगे

सावित्री से सती (प्रथा) और अब पुनः स्वयंवरा पर भारतीय नारी का मुक्ति-इतिहास-चक्र पहुंचकर रुकता-सा जान पड़ता है। सदियों की इस गाथा ने इतने रंग अपने साथ लपेट लिए हैं कि अब उन्हें हटाने को एक नया मुक्ति-चक्र चलना अपेक्षित हो गया है। हजारों साल के उतार-चढ़ाव ने एक अजब दृश्य सामने ला उपस्थित किया है जहां पुरुष और स्त्री के पारस्परिक दृष्टिकोण इतने वैविध्यमय और अंतर्विरोधी होकर सामने आते हैं कि चित्र पूर्णरूपेण अतियथार्थवादी अमूर्तता धारण कर लेता है। सर्वेन्तीज ने कहा था कि स्त्री की सलाह निरर्थक होती है लेकिन जो उसे नहीं मानता, वह मूर्ख है। कुछ ऐसी ही अटपटी बात आज भारतीय पुरुष करता दिखाई देता है—खास तौर से शहरी पुरुष। नारी के लाभ से वह भली भांति परिचित है। सिनेमा टिकट की लंबी पंक्ति, आवेदनपत्र जमा कराने की भीड़, घर-खर्च के लिए अतिरिक्त कमाई, बात मनवाई और अपनी नई नजर से प्रमाणस्वरूप बी० ए०, एम० ए० डिग्री प्राप्त पत्नी को वह धूप के चश्मे की तरह धारण करता है किन्तु घर की चारदीवारी के भीतर हर बाहरी मामले पर अपने मत को ऊंचा, उसको नीचा ठहराता, उसे मातृत्व और पाकविद्या की लक्ष्मण-रेखा में सुरक्षित रखना चाहता है। दोष पुरुष का भी नहीं। रूढ़िग्रस्त भारत में राजा राममोहन राय के समाज-सुधारक आंदोलन से लेकर श्रीमती गांधी के प्रधानमंत्रित्व तक की दौड़ इतनी आकस्मिकता और तेजी से हुई है कि सदियों से मंद-गति-अभ्यस्त भारतीय मन अभी इस आंधी से हिल रहा है। बीसवीं सदी एक भूचाल की तरह उखाड़ती-पछाड़ती आई है और उसने पूर्व तथा पश्चिम के मानदंडों को गड्ड-मड्ड करके रख दिया है। उसीका एक परिणाम है यह स्थिति, जब भारतीय नारी को सब अधिकार प्राप्त हैं, सिर्फ अपना अधिकार मांगने का अधिकार प्राप्त नहीं।

निराला ने लिखा है कि क्रांति की आंधी विशालकाय पेड़ों को जड़ से उखाड़ देती है लेकिन कोमल घास फूटकर लहराने लगती है। यही कारण है कि कीचड़ और दलदल के बावजूद भारतीय नारी का कार्यक्षेत्र आज हरी घास की तरह चारों दिशाओं में फैल रहा है। यहां गणना केवल उनकी नहीं, जो असाधारण हैं। अंतरिक्ष-यात्री या विश्वसुन्दरी अपवादों की श्रेणी में रखी जा सकती हैं, किन्तु शिक्षा, उद्योग, चिकित्सा, राजनीति, कृषि, विज्ञान, साहित्य और कला में चमकने वाली महिलाएं उसी कर्मठता, मनोयोग और स्पर्द्धा से आगे बढ़ी हैं जिससे कोई भी अपने क्षेत्र का गुणी पुरुष बढ़ पाया है; बल्कि कहा जाए कि महिलाओं को ज्यादा अड़चनों का सामना करना पड़ा है तो गलत न होगा। उसे मान्यता पाने के लिए पुरुष से ज्यादा अच्छा बनकर दिखाना पड़ता है।

अर्से तक विश्व-समाज में स्त्री को पुरुष से हीन माना गया है। उसे नूतन उद्-भावना और मौलिक विचार के अयोग्य समझा जाता था। मातृत्व धारण करने का नैसर्गिक शारीरिक धर्म, पुरुष की, नारी के खिलाफ, सबसे बड़ी दलील थी। उसीके बल पर उसकी स्वतंत्रता समाप्त करके उसे मूलतः परिवार, पति और बच्चों के निमित्त मान लिया गया था। भारतीय संदर्भ में महात्मा गांधी और विदेशी संदर्भ में लेनिन ने इस भ्रांति को दूर करने में सबसे बड़ा कार्य किया। संभवतः यही कारण है कि भारत और रूस में स्त्री को जो संवैधानिक और कानूनी अधिकार स्वतः मिले, उनके लिए ब्रिटेन और अमेरिका में स्त्री को जेहाद बोलना पड़ रहा है। रूस में स्त्रियों को पुरुषों के समानाधिकार प्राप्त हैं और वहां अनेक महिलाओं ने पार्टी और सरकार में उच्च पदों को प्राप्त किया है। तुर्कमेनिया जैसे मुस्लिम-प्रधान प्रदेश में भी स्त्रियों ने जो स्वाधीनता और बराबरी पाई है, वह वहां की नारी-मुक्ति का मानदंड मानी जा सकती है। इसके विपरीत ब्रिटेन में यद्यपि कुल कामगरों में एक-तिहाई स्त्रियां हैं लेकिन उन्हें उसी काम के लिए पुरुषों से ३५ प्रतिशत कम वेतन मिलता है। फिर भी, लगभग सारी दुनिया में पुरुष-श्रमिकों को प्राथमिकता दी जाती है। इसका एक कारण महिला-मजदूरों को मिलने वाली कानूनी अतिरिक्त सुविधाएं भी हो सकता है। मातृत्वकाल की छुट्टी, रात में काम करने का निषेध, भूमिगत काम करने की मनाही आदि इनमें से कुछ हैं। इस तरह कभी-कभी मालिक को मर्द-मजदूर औरतों के मुकाबले सस्ता पड़ जाता है। खोज-रिपोर्टों से हटकर सतह को जरा-सा भी उघाड़ें तो एक और सच्चाई सामने आती है। अतिरिक्त सुविधाओं के ये आयोजन अकसर किताबी ही रहते हैं।

भारत में बेरोजगारी व गरीबी का यह हाल है कि मालिक की सब शर्तों को मानती हुई औरत मजदूरी को कसकर पकड़े रहती है। ऐसे में अपने अधिकारों की मांग सबसे पहले नौकरी खोने में प्रतिफलित होती है, जो उसके लिए असाध्य है। फिर भी कुछ ऐसे काम हैं, जिनमें स्त्रियां ही अधिक दक्ष पाई गई हैं और उन्हींको

प्रमुखतः ऐसी नौकरी दी जाती है—जैसे शीशियां भरना, लेबल चिपकाना, डिब्बे बंद करना, बीड़ी लपेटना, चाय बागान में पत्ती चुनना आदि। कमी सबसे बड़ी यह है कि स्त्रियों को काम का प्रशिक्षण पाने की कोई सुविधा उपलब्ध नहीं है और वे अप्रशिक्षित मजदूरों की श्रेणी में ही निरंतर बनी हुई हैं। खेती में स्त्रियां हमेशा से पुरुषों की मदद करती आई हैं लेकिन अब तकनीकी प्रगति के साथ खेती का नक्शा बदल रहा है और गांव के लोगों को आज यह सुझाने की आवश्यकता है कि ग्रामीण लड़की यदि कृषि की वैज्ञानिक शिक्षा पा ले तो कमाई में चार चांद लग सकते हैं।

शहरों की ओर दृष्टि डालें तो वहां का माहौल बहुत बदला हुआ नजर आता है। लोकल ट्रेनों और बसों से कार्यशील महिलाओं की लहर पर लहर सुबह निकलती है और दफ्तरों में समा जाती है। हर ऑफिस में कदम रखते ही स्वागतिका (रिसेप्शनिस्ट) मिलती है। हर विभाग में टाइपराइटरों पर सुकुमार हाथ मुस्तैदी से ऑफिस-संगीत बजाते सुन पड़ते हैं। फोन उठाते ही कर्णमधुर स्त्री-स्वर सहायता को तत्पर जान पड़ता है। यह आम बात है। लेकिन आम महिला और आगे बढ़ आई है। व्यक्तिगत संबंधों पर आश्रित बहुतेरे व्यावसायिक कार्य महिला अपने सौम्य तथा समझदार व शांत व्यक्तित्व से बहुत अच्छी तरह सुलझा पाती है। इस बात को समझकर जन-संपर्क (पब्लिक रिलेशंस) का काम महिलाओं को सौंपा जाने लगा है। हर बड़े उद्योग में कुछ महिला लेबर ऑफिसर जरूर होती है ताकि श्रमिकों और मालिकों के बीच के कुछ विशिष्ट तनावों को वे दूर कर सकें। औद्योगिक संस्थानों में श्रमिकों के पारिवारिक कल्याण-कार्य में भी उनका सहयोग अमूल्य साबित होता है। कल्याण-अधिकारी (वेलफेयर ऑफिसर) पद के लिए भी स्त्रियों को प्राथमिकता दी जाती है।

कुछ और कार्यों में भी महिलाओं की उपस्थिति मनोवैज्ञानिक कारणों से होने लगी है। वे हैं बिक्री के छोटे-बड़े माध्यम। विदेशों में अपने माल का बाजार ढूंढने से लेकर काउंटर पर खड़े होकर सामान बेचना और घर-घर जाकर अपनी कंपनी के माल का प्रचार-प्रसार व बिक्री महिलाएं कर रही हैं। हर बाजार में खरीदार पुरुष है, वह महिला विक्रेता की बात को ना कहते हिचकिचाता है। वह भद्रता के नाते ही सही, महिला-विक्रेता की बात कम-से-कम सुन लेता है।

आज भारत में जितनी स्त्रियां जितने ऊंचे पदों पर, जितने अधिक क्षेत्रों में हैं, विश्व के किसी दूसरे देश में नहीं हैं। विकसित देशों में जो स्थान मात्र पुरुष के लिए सुरक्षित समझे जाते हैं, अपने विकासशील देश में महिलाओं ने पाए हैं। उदाहरणार्थ देश की दूसरी सबसे बड़ी शिपिंग कंपनी की चेयरमैन एक स्त्री का होना, भारत ही में संभव था। श्रीमती सुमति मोरारजी लगातार तीन साल तक इंडियन नेशनल स्टीमशिप ओनर्स एसोसिएशन की अध्यक्षा चुनी गईं। रूस, अमे[illegible]

और ब्रिटन में भारतीय राजदूत होने के अतिरिक्त श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सभापति रहीं। विश्व के समस्त पार्श्व-गायकों में लता-मंगेशकर सबसे अधिक महंगी हैं। इतनी व्यस्त कि अकसर फोन पर धुन पकड़कर गाना रिकॉर्ड करा लेती हैं लेकिन साथ ही अपनी गान-श्रेष्ठता के लिए प्रिय ही नहीं, समादृता भी हैं। श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय ने भारतीय सौंदर्य-दृष्टि जगाकर भारतीय शिल्प को देश-विदेश में फिर से गौरव दिलाया है। महारानी गायत्रीदेवी संसार की दस अद्वितीय सुन्दरियों में ही नहीं गिनी जाती थीं, वे राज-नीति के क्षेत्र में भी जागरूक रहीं। और खैर, श्रीमती इंदिरा गांधी की प्रखर राजनीतिक सूझबूझ और व्यक्तिगत करिश्मे का लोहा तो पूरा संसार मानता है।

चिकित्सा के क्षेत्र में महिलाएं सर्वप्रथम नर्सिंग का काम करने के लिए प्रविष्ट हुई थीं। आज वे पूर्णरूपेण चिकित्सक-बनकर समाज की बहुमूल्य सेवा कर रही हैं। शल्य चिकित्सा से लेकर मनोचिकित्सा तक हर विभाग में उन्होंने महारत हासिल की है। देश में महिलाओं के लिए अनेक मेडिकल कॉलेज इसका प्रमाण हैं। अपंग और विकलांग बच्चों के अस्पतालों में महिला डॉक्टरों की बहुतायत रहती है। न जाने कितनी सहृदय और कुशल स्त्री चिकित्सकों ने असीम धैर्य और आस्था से ऐसे बच्चों को नया, सार्थक जीवन प्रदान किया है।

यही हाल अदालतों का है। बीस-पच्चीस साल पहले महिला बैरिस्टर उंग-लियों पर गिनी जा सकती थीं। १९१६ में कलकत्ता विश्वविद्यालय की मेधावी छात्रा रेजीना गुप्त कानून की परीक्षा पास करके निकलीं और उन्होंने कलकत्ता के अलीपुर कोर्ट जिला में वकालत करने के लिए अर्जी दी। महिला वकील! एक सनसनी मच गई और कलकत्ता हाईकोर्ट ने उनकी अर्जी नामंजूर कर दी। उसके बाद तो भारत ने अनेक पोर्शियाएं अपनी कचहरी में देखीं। मिस नलैम, दीना अहमदुल्ला, दुर्गाबाई देशमुख, श्यामकुमारी खान, वॉयलेट अल्वा, अनुसूया दत्त, अमीनानागी, परवेज मजगांववाला, फेन झाबवाला, सुजाता मनोहर। सूची बढ़ती ही चली जा सकती है। इन महिला वकीलों और बैरिस्टरों के सामने अजीबो-गरीब अड़चनें आई हैं। कुछ साथी पुरुष वकीलों ने महिला वकीलों से प्रतिद्वन्द्विता करने में हतक-इज्जत समझी, तो किसीने कहा कि ये मर्दाने वेश में अपना स्त्रीत्व छुपाकर आएं अन्यथा ज्यूरी और अदालत से इन्हें नाजायज सहानुभूति मिल जाएगी। बहुतों ने यह आरोप लगाया कि वकालत इन लड़कियों के लिए शादी न होने तक वक्त काटने की तफरीह है और इस बीच कोई अच्छा वकील ही कांटा निगल गया तो वारे-न्यारे हैं। इन सब दलीलों में सचाई कोई है तो सिर्फ इतनी कि भारतीय पुरुषों को अभी स्त्रियों के सामीप्य की आदत नहीं है और इसीलिए वह खुद अपनी प्रतिक्रियाओं के खतरों की तरफ सावधान रहना चाहता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि नारी-शिक्षा के साथ-साथ उसके कार्य-क्षितिज

फैलते चले जा रहे हैं। भारत में शिक्षा का अभाव अभी इतना अधिक है कि स्त्री-शिक्षा के आंकड़े प्रभावशाली नहीं। लेकिन जब एक दशक के अंदर अक्षर-ज्ञान प्रतिशत गांवों में ८·५४ से बढ़कर १३·० और शहरों में ३४ ५१ से बढ़कर ४२ ० पहुंचा है, तो एक आशा जरूर बंधती है। एक रोचक सर्वे के अनुसार पिछले बीस वर्षों में विवाह-विज्ञापनों में लड़की की आयु षोडशी से बीस वर्षीया के ऊपर जा पहुंची है। इसी तरह समाज के आर्थिक ढांचे पर यह बात प्रकाश डालती है कि इन्हीं विज्ञापनों में लड़की के कुशल गृहिणीत्व के गुणों की अपेक्षा उच्च शिक्षा-प्राप्ति और नौकरीयाफ्ता होने को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है।

यदि कहें कि ५० से १०० साल पहले भारतीय नारी के दो ही कार्य-क्षेत्र थे—घर और कोठा—तो शायद इसमें बहुत अतिशयोक्ति न हो। आज इसमें आमूल-चूल परिवर्तन है—यह भी स्वतः सिद्ध है। महिलाओं ने हथकरघे और अन्य गृह-उद्योगों को बखूबी संभाला हुआ है। बड़े शहरों के हर मुहल्ले में एक ऐसा घर मिल जाएगा जहां या तो पापड़-बड़ियां बनाकर लिफाफों में पैक होते हैं, या गराज में छपाई-कढ़ाई-रंगाई और बाटिक का कारखाना खुला हुआ है। चार दर्जी बिठा-कर सिलाई हो रही है। तैयार वस्त्रों की हर तीन महीने नुमाइश होती है और अच्छी-खासी आमदनी घर में आ जाती है। इसी तरह फर्नीचर बनवाने, छोटे-बड़े स्कूल चलाने (चाहे वह पढ़ाई का हो या पाक-शिक्षा, शृंगार-सज्जा, गृह-सज्जा या सिलाई-कढ़ाई का), प्रकाशन, दस्तकारी, आदि के कितने ही लघु उद्योग महिलाएं सुचारु रूप से चला रही हैं। उनके कलात्मक निर्माण इतने मौलिक होते हैं कि निर्यात के लिए उनकी मांग बराबर बनी रहती है। हर सुन्दर सुरुचिपूर्ण बुटीक के पीछे एक योग्य, सुसंस्कृत नारी का मस्तिष्क है। होटल-व्यवस्था, विज्ञा-पनी व्यवसाय, मॉडलिंग, नुमाइश और विज्ञापन-उपलब्धि के कार्य आज महिलाओं के बिना संभव नहीं। असाधारण कार्य-क्षेत्र भी अब नारी की पहुंच से बाहर नहीं रह गए हैं। जयंती मुखर्जी हवाई जहाज से पैराशूट उतराई करने वाली पहली महिला थी और किरण बेदी पहली पुलिस अफसर। ये द्वार अब स्त्रियों के लिए उन्मुक्त हो चुके हैं। दुनिया की ऊंची-से-ऊंची पहाड़ की चोटी पर कदम रखना अब उसके लिए संभव है। कैलाश, हनुमान टिब्बा, गंगोत्री, त्रिशूल आदि चोटियां साहसी भारतीया के कदम नाप चुके हैं और एवरेस्ट विजय तक का क्षेत्र महिलाओं ने पाया है। आई० ए० एस० और आई० एफ० एस० की परीक्षाओं के परिणाम जब निकलते हैं तो प्रथम पांच में स्त्री-नाम जरूर होता है। महिला इंजीनियर और भवन-निर्माण कलाविद् क्या अब केवल पुरुष रह गए हैं ? पत्रकारिता में दीप्त स्त्री-नामों का जिक्र करना शायद एक पुरानी बात को दुहराना ही होगा। इसी तरह खेल-कूद के मैदान के हर कोने में लड़कियां उतरी हुई हैं। चाहे वह अंतर्राष्ट्रीय दौड़-प्रतियोगिता हो या अचूक निशानेबाजी या अद्‌भुत घुड़सवारी

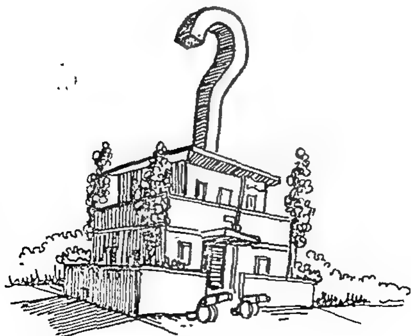
का सम्मान ।

कला का क्षेत्र विशेष रूप से महिलाओं का प्रांगण रहा है किन्तु उसमें भी नई प्रतिभा, नई पदोन्नति आई है। उन्नति महिलाओं की नहीं, उनके कारण विविध कला-रूपों की हुई है। फिल्म जैसे लोकप्रिय मनोरंजन के साधन से लेकर साहित्य, नृत्य, संगीत, नाटक, चित्रकला—सभीमें स्त्रियों ने देश और विदेश में अपना नाम उजागर किया है।

जे० बी० प्रिस्टले नारी-स्वतंत्रता के बहुत बड़े हिमायती रहे हैं और उनके अनुभव के अनुसार, महिला कार्यकर्ता पुरुषों से अधिक अंतर्विवेकी—स्पष्ट-मति, साहसी और कम-विदग्ध तथा कम अहंवादी होती हैं। इसी संदर्भ में वे कहते हैं :

"जब कोई स्त्री अचानक सत्ता पाने पर अटपटा महसूस करती है या हास्यास्पद-सी दिखती है तो इसलिए कि उसे यह भूमिका पुरुषोचित शैली में निभाने को कहा जाता है। उससे अपनापन खोने की अपेक्षा की जाती है।" भारतीय महिलाएं भी जब शुरू-शुरू में घर से बाहर निकली थीं तो उनमें एक विचित्र पुरुषत्व का आभास मिलता था। मोटी-सी साड़ी लापरवाही से बांधकर एक शृंगार-विहीना, अनाकर्षक नारी पुरुष के समक्ष आ खड़ी होती थी। संभवत: यह उसका अपने बचाव का एक उपाय था या अपने को पुरुष की बराबरी दिलाने का साधन। अब उसे इसकी अपेक्षा नहीं रही। अब कार्यशील महिलाएं अपनी नैसर्गिक कोमलता और स्त्री-सुलभ सौंदर्य के प्रति भी उतनी ही सचेष्ट हैं जितनी वे अपनी कार्य-संबंधी जिम्मेदारी के प्रति। यहीं आकर भारतीय और पाश्चात्य मुक्ति-आंदोलन बहुत अलग हो जाता है। पश्चिम में नारी पुरुष को जीतने के लिए लड़ रही है। इसलिए वहां के मुक्ति-आंदोलन में सबसे पहले नारी को अपने नारीत्व से मुक्ति लेनी पड़ी। भारतीय नारी पुरुष के समकक्ष आने के लिए आंदोलन कर रही थी और कर रही है। उसका आंदोलन आक्रामक नहीं है। इसीलिए आज हर कार्य-शील महिला एक सुखद संतुलन के लिए प्रयत्नशील रहती है। वह व्यवसाय में पुरुष से आगे बढ़कर सचेत है लेकिन घर, स्वस्थ बच्चे और स्नेही व यशस्वी पति को खोने के लिए तैयार नहीं है।

खण्ड 4



पूर्वी अफ्रीका से निष्कासन : दो वक्तव्य

- ☐ केन्याई भारतीय का पत्र : 'पिता' के नाम
- ☐ भारत का उत्तर : 'पुत्र' के नाम

(ब्रिटेन, भारत और केन्या सरकार के कानूनी त्रिकोण में फंसे केन्या के प्रवासी भारतीयों की समस्या के दोनों पहलुओं का भावपूर्ण चित्रण, दो काल्पनिक पत्रों के माध्यम से)

केन्याई भारतीय का पत्र : 'पिता' के नाम

अनागरिकता के पशु ने मुझे अपने पैने सींगों में खदेड़कर निराश्रयता के सागर-तट पर ला पटका है। घावों से लहू की अंतिम बूंद रिस जाने के पहले, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का जाप करने वाले पिता (?) भारत को एक बार और ललकारना चाहता हूं कि वह मेरी आंखों में आंखें डालकर यह कह दे कि यह लहू उसका नहीं है।

अशोक ने अपने पुत्र और पुत्री को बौद्धधर्म का प्रचार करने विदेशों में भेजा था। अनगनित श्रेष्ठिपुत्र रत्नों और भारतीय रेशम से भरी नौकाएं लेकर जाते थे और विदेशों में व्यापारियों की पीढ़ियां स्थापित हो जाती थीं। स्वयं अशोक ने अपने अभिलेख में खुदवाया कि उसने यूनानी राजाओं के पास यूनानी खण्डों में औषधियां बांटने तथा रोगों का उपचार करने अनेक भारतीय वैद्यों को भेजा था। मेरे वंशज इतने महान तो नहीं थे, किन्तु वे भी पूर्वी अफ्रीका में सत्ताधारी अंग्रेजों द्वारा वहां रेल-लाइन का जाल बिछाने पर मजदूरी की खोज में चले आए। रोटी कपड़ा, लम्बी अवधि के काम—हमारा सामाजिक जीवन वहीं बस गया। पत्नी-

बच्चों सहित हमारी जड़ें अफ्रीकी धरती से रस लेने लगीं। हमें क्या पता था कि हम न घर के रहे हैं न घाट के! आज लगता है, जैसे हम या तो पापी हैं, या देश-द्रोही या ऐसे ही कुछ जघन्य। हमारे पेट ने हमें इस भंवर में लाकर छोड़ दिया है।

हमने सुना-पढ़ा था कि माता-पिता के मन में अपनी सभी संतान के लिए एक वात्सल्य होता है; बल्कि जो किसी ढंग से साधारण और हीन है, उसके प्रति कुछ अधिक ही ममत्व रहता है, क्योंकि जनक उसके प्रति अधिक उत्तरदायित्व महसूस करता है। हमारे भाग्य में क्या वह गौरवहीन ममत्व भी न था? इस देश का दिल अचानक इतना सिकुड़ कैसे गया? हमारे बच्चे जब मातृभाषा सीखते थे, तो उन्हें जयशंकरप्रसाद पढ़ाए जाते थे—'बरसाती आंखों के बादल, बनते जहां भरे करुणा जल' और 'उड़ते खग जिस ओर मुंह किए, समझ नीड़ निज प्यारा'। हमने कभी सोचा ही न था कि यह कोरी कल्पना है—कसौटी पर खोटी साबित होगी। भारत में हमारे मित्र थे आलम और कुरेशी, हमारा रोटी-बेटी का सम्बन्ध पारसियों से था, ताजमहल हमारी शान की निशानी था। जिस देश में मंगोल, बर्मी, तिब्बती, नेपाली, चीनी और बिलोची आकर एक हो गए, जहां आर्य-अनार्य रक्त गंगा और यमुना के पानी की तरह मिल गया, वहां से हम इस देश की जायज संतान, ७०-७५ वर्ष की अनुपस्थिति के कारण दूध की मक्खी की तरह निकालकर फेंक दिए जाएंगे, यह क्या कभी सपने में भी सोचा जा सकता था?

क्या हम एक लाख केन्याई-भारतीय क्रीतदासों की तरह हाथ जोड़कर खड़े हो जाएं और अपने पुष्ट अंगों का प्रदर्शन करें? कहें, केन्या की स्वतंत्रता-प्राप्ति में हमने उस देश के कंधा-से-कंधा भिड़ाकर काम किया। पहला अंग्रेज-विरोधी समाचार-पत्र हमारी निर्भीकता के कारण छप सका था। हम सूखी रेत से तेल निकाल सकते हैं, खाली जेब महल उठा सकते हैं, हममें सबको अपना लेने की अद्भुत शक्ति है, हमारे व्यापारिक ज्ञान की देन तुम जैसे विकासशील देश के लिए अमूल्य सिद्ध होगी। अंतर्राष्ट्रीय भाईचारे में हमारे बच्चे मजबूत सूत्र बन सकते हैं। हमें खरीद लो, अपने दरवाजे पर पड़ा रहने दो। क्या इस तरह बोली लगवाने से तुम्हारा सिर बहुत ऊंच उठ जाएगा?

१९६३ में केन्या-स्वतंत्रता के बाद हमारे सामने प्रस्ताव आया कि हम अपनी नागरिकता तय कर लें। हम अपने-आपको केन्या का अंग समझने लगे थे, पर हमने पाया कि केन्या का स्वतंत्र नागरिक हमारी समृद्धि को नहीं सह पा रहा। उसकी आंखें हमारी दुकान, मकान और बैंक-बैलेंस पर हैं। इस आकस्मिक परिवर्तन के समय ब्रिटेन ने दोस्ती का हाथ बढ़ाया और सुझाया कि हमें ब्रिटिश पासपोर्ट ले लेना चाहिए। हमारी आंखों में भारतीय पासपोर्ट के मुकाबले, विजेता, गोरे देश का पासपोर्ट कहीं अधिक सुनहरा दिखाई दिया। हममें से अधिकांश ने उसे ही चुना। इस दोस्ती के पीछे जो चाल थी, वह हम नहीं, लेकिन केन्या सरकार

समझ गई। अंग्रेज चाहता था कि जैसे ही हम हटें, सारे महत्त्वपूर्ण व्यापार वह हथिया ले। केन्या सरकार ने उनके दरवाजों के पट बंद कर दिए। ब्रिटेन ने जब हमारी उपयोगिता समाप्त होती देखी, तो १९६८ में बिल पास किया कि वे एक साल में १५०० से अधिक एशियाई केन्यावासियों को अपने देश में नहीं आने देंगे। उधर ३१ दिसम्बर, १९६८ को केन्या सरकार ने सूचना दी कि अगली सुबह से ही अधिकांश भारतीय व्यापारियों को अपनी दुकान बढ़ानी होगी। इस प्रकार हर तीन एशियाई दुकानदारों में एक दुकानदार बेकार हो गया। इसके अलावा उन्हें चीनी, सिगरेट, मिट्टी का तेल, घी, कौर्न और कई बुनियादी चीजों के व्यापार में हाथ लगाना निषिद्ध हो गया। एक चीज और ! हम बिलकुल ही अंधे नहीं थे। इनमें से बहुतों ने केन्याई नागरिकता अपनाने के लिए यथासमय अर्जी दे दी थी, जिनका गमनचुंबी अंबार केन्या सरकार को छूने की फुरसत न मिली और निर्धारित अवधि निकल गई।

भारत कानून की आड़ ले रहा है, ब्रिटेन कानून की आड़ ले रहा है, केन्या कानूनी कार्यवाही की धमकी दे रहा है—इस आग लगे जंगल में भटक रहे हैं हम एक लाख केन्याई-भारतीय—यह असहाय उत्सर्ग कितना भयानक है, कितना अपमानकारी !

भारत का उत्तर : 'पुत्र' के नाम

तुमने मेरे पितृत्व को ललकारा है, उस खून की गवाही दी है, जो तुम्हारी-मेरी रगों में एक है। यह भी याद दिलाया है कि संतान की रक्षा पिता का धर्म है। तुम्हारी दृष्टि में मैं स्नेह, परंपरा और धर्म सब दिशाओं में अन्यायी हूं। उत्तर में तुमसे बहुत कुछ कह सकता था। यह कि मुझसे जी खोलकर बात करने की तुम्हें आज ही क्यों सूझी ? यह भी कि पिता-पुत्र सम्बन्ध सिर्फ रक्त का नहीं, भावना का अधिक होता है। और यह भी कि कठिनाई में पड़कर अपनी मान्यताओं और आस्थाओं से डिग जाने वाला कायर कहलाता है। लेकिन इनमें से कुछ भी मैं नहीं कहूंगा। जब पुत्र वयस्क हो जाता है, तो वह साथी हो जाता है, उसी बराबरी पर आकर मैं भी तुमसे कुछ बात करना चाहता हूं।

लगभग १० वर्ष पूर्व विज्ञान और तकनीकी ज्ञान प्राप्त ५००० भारतीय विदेशों में रहते थे। जब बर्मा आजाद हुआ, तब वहां का करीब-करीब सारा मुख्य व्यापार दक्षिण भारतीय चेट्टियार वर्ग के हाथ में था। इसी प्रकार १९६४ में लंका में लगभग १० लाख भारतीय रह रहे थे। १९६५ में अमेरिकी विधान के फलस्वरूप शिक्षित भारतीय और भी बड़ी मात्रा में वहां पहुंच रहे हैं। यह तो हुई विशेष शिक्षा प्राप्त भारतीयों की बात। वैसे श्रम-मंत्रालय की रिपोर्ट के अनुसार ५० लाख भारतीय सब विदेशों में फैले हुए हैं।

अब एक नजर भारत-भूमि पर डालो। यहां ६० करोड़ से ऊपर की आबादी है। ३३ करोड़ ग्रामीण ६८ पैसे रोज, और १ करोड़ केवल २७ पैसे रोज पर गुजारा करते हैं। इनमें अधिकांश आधे पेट भोजन पर रहते हैं और न जाने कितनों के सिर पर छत नहीं है। मैं इन सबका पिता हूं। तुम बताओ, इनमें से किसकी आमदनी में हिस्सा बंटाना चाहते हो तुम? और कितनों को भोजन व आश्रय से रहित किया जाए कि तुम्हें सहारा मिले?

कभी तुमने यह भी सोचा कि विदेशियों को अपनी भूमि से खदेड़ देने की लहर को, विभिन्नता और दूरी की खाइयों को, और चौड़ा यदि करना है, तो उसका सबसे सफल हथियार होगा तुम्हें अपनी बांहों में भर लेना। निराश्रयता के तुम्हारे एहसास से सिर्फ तुम्हारी ही नहीं, सारी दुनिया की आंखें खुल रही हैं। उनकी भी, जो नागरिकता को पुराने-नये वस्त्र की तरह उतार-ओढ़ लेना चाहते हैं और उन देशों की भी, जो बिना आगा-पीछा देखे किसीको भी न्यौतने को तैयार रहते हैं। परिवार-नियोजन के लाल तिकोनों से रंगी इस धरती पर यदि ४० लाख विदेशों में बसे भारतीय उमड़ पड़े, तो क्या होगा?

तुम यह कह सकते हो कि देश से बाहर कदम रखने की यह सजा बहुत भयंकर है कि उसका दरवाजा ही हमेशा के लिए तुम्हारे प्रति बन्द हो जाए। लेकिन तुम सिर्फ कुछ दिन को बाहर नहीं गए थे, तुमने देश ही बदल डाला था, अपनी मातृ-भूमि का त्याग किया था, दूसरी धरती पर अपने बीज रोपे थे। इतना बड़ा कदम असावधानी में नहीं उठाया जाता और अज्ञान कभी समुचित बहाना नहीं बन सकता। तुमने केन्या की स्वतंत्रता में हाथ बंटाया, लेकिन भारत के स्वतंत्रता-संग्राम से तुम अछूते रहे। अगर उसमें भी भाग लिया होता, तो उन विदेशी शासकों की चाल स्वयं समझ जाते। हमारा उनसे २०० वर्षों का नाता है। वह एक तिजारती कौम है, जो सिर्फ फायदे की भाषा बोलना जानती है। मैं तो कहूंगा कि तुमने भी उनसे वही भाषा बोलनी सीख ली। सच कहो कि क्या तुमपर यह आरोप गलत है कि तुम उस व्यापारिक वर्ग के हो, जो केन्याई पैसे से सालाना पिकनिक मनाने लंदन जाता है और भारत में जागीर बनाने आता है?

तुम्हारे सामने एक और अवसर आया। अपनी वफादारी तय करने का अवसर! लेकिन उस समय भी तुम्हें यह ध्यान न आया कि स्वदेश लौट चलें। उसे हमारे अनुभव की आवश्यकता है, हमारी दौलत उसके काम आ सकती है, हमारी प्रखर व्यापारिक बुद्धि उसकी सैकड़ों मुश्किलें आसान कर सकती है। उस समय तुमने अपनी दासता-वृत्ति से उबरने का प्रयास नहीं किया। तुम खुद मानते हो कि ब्रिटिश पासपोर्ट का रंग तुम्हें कहीं ज्यादा लुभावना और आकर्षक लगा।

आज मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूं? न तुम्हारे बच्चों को अच्छी शिक्षा दे सकता हूं, न तुम्हें रोजगार! सही वातावरण भी मेरे यहां नहीं है। इन सबसे

प्ररित होकर वयस्क पुत्र, जो कुछ तय कर लेता है, उसकी सारी अच्छी-बुरी मभावनाओं को उसे ही झेलना होता है। अब तुम पुत्र नहीं, एक व्यापारी हो। वह इकाई, जो अपनी हर सफलता के लिए खुद बधाई का पात्र है और अपनी हर भूल के लिए खुद उत्तरदायी।

बंगाल का बाघ-घेराव

गांधीजी ने जिस दिन विना शर्त अपनी वात मनवाने की कल्पना की थी, वास्तव में, उसी दिन 'घेराव' का तात्त्विक जन्म हो गया था। किन्तु आज घेराव का जो रूप हमारे सामने है, वह बापू की अहिंसक कल्पना से कोसों परे है। सत्याग्रह में आत्मपीड़न के द्वारा दूसरे के सम्मुख अपनी मांग की सत्यता प्रदर्शित की जाती थी और घेराव में परपीड़न द्वारा दूसरे को अपनी मांग के आगे झुकने पर मजबूर किया जाता है।

२४ अगस्त, १६६६ को संयुक्त महाराष्ट्र समित ने, जिसकी मांग रही कि मैसूर के मराठी-भाषी भाग महाराष्ट्र में सम्मिलित होने चाहिए, वम्बई में एक हजूम इकट्ठा किया था और आवाज लगाई थी—'सचिवालय का घेरा डालो।' समिति की योजना थी कि सचिवालय में उस रोज काम वन्द करवा दिया जाए। सरकार योजना भांप गई और वहां धारा १४४ लगा दी गई। फलतः समिति के वॉलंटियर सचिवालय से दूर खड़े रह गए। पर फिर उन्होंने फौरन ही पैंतरा वदला और पुलिस के घेरे पर ही घेरा डाल दिया। कोई कर्मचारी सचिवालय के अंदर न जा सका और इस तरह वे अपने ध्येय में सफल हुए। यही घटना वर्तमान घेराव का जन्म थी। इसके वाद में यों इक्के-दुक्के घेराव देश भर में होते रहे किन्तु वास्तव में घेराव पनपा भारत के दूसरे कोने में यानी दूर—पश्चिम बंगाल में।

पश्चिम बंगाल में अजय मुखर्जी की संयुक्त मोर्चा सरकार को अभी एक महीना भी पूरा नहीं हुआ था कि सारा राज्य, मजदूर-असंतोष से आक्रांत हो उठा। नौवत यहां तक पहुंची कि श्री मुखर्जी ने इस मामले को निवटाने के लिए मजदूर-संघ नेताओं की एक बैठक बुलाई। उसमें ऐसा जान पड़ा कि सरकार, श्रमिक वर्ग की इस प्रवृत्ति के विरुद्ध है कि वह अपनी मांग गैर-कानूनी ढंग से पूरा करने का

प्रयत्न करे। मूल रूप में श्रमिकों की मांग थी वेतन में वृद्धि। किन्तु कई कारणों से देश का व्यापार मंदा पड़ गया था और कई कारखाने बन्द कर दिए गए और हजारों मजदूर बेकार हो गए। स्थिति संभलने की बजाय बिगड़ती ही चली गई और मजदूर की व्यग्रता भी बढ़ती गई। मजदूर अदालती लड़ाई, समझौते, बीच-बचाव—सबकी लम्बाई-चौड़ाई और निष्फलता से पूरी तरह ऊब चुका था। उसने यह नया हथियार उठाया—घेराव। बंगाल में संयुक्त मोर्चा सरकार ने बागडोर संभाली थी मार्च में और अप्रैल के अन्त तक १४४ छोटे-बड़े घेराव वहां हो चुके थे।

घेराव की प्रवृत्ति जंगल की आग की तरह फैलती चली गई। जहां भीड़ इकट्ठी होती है और उसका मन अत्याचार से दमित होने की प्रतीति से भरा होता है तो उसमें हिंसा फूटकर रहती है। भारत का स्वतंत्रता-अभियान इसी दृष्टि से सामाजिक-दर्शन में एक चमत्कार बनकर रहेगा। लाखों लोगों के समूह, जिनके दिलों में देश की पराधीनता आग धधकाए रखती थी, जुड़ते थे, लेकिन हिंसा को अधिकतर मन में पनपने नहीं देते थे। इस पूरे गांधीवादी स्वतंत्रता-संग्राम में भी हिंसा के दर्शन करने वाले कुछ विचारक भी हैं, किन्तु उसके वास्तविक और क्रिया-त्मक अहिंसावाद से इंकार नहीं किया जा सकता। लेकिन सन् ६६ से प्रारंभ होने वाले स्वाधीन भारत के ये घेराव अहिंसावादी नहीं रहे, चाहे उनके हिंसाभाव के पीछे कतिपय राजनीतिक दलों का हाथ हो, चाहे गुंडागर्दी का, चाहे समूह-वृत्ति का और चाहे व्यक्तिगत व सामाजिक दमित-मनोभावों का।

आम तौर पर घेराव में कुछ व्यक्ति एक कमरे या दफ्तर या फिर घर का घेरा डाल लेते हैं। यह घेरा तब तक उठाया नहीं जाता जब तक उनकी मांगें पूरी करने का वायदा नहीं कर लिया जाता। अक्सर इसमें कटु वैमनस्य आ जाता है। मांगकर्ता धरना तो दे देते हैं, नारे लगाते हैं, और गाली-गलौज भी शुरू कर सकते हैं। कई बार घिरे हुए व्यक्ति के पास खाना-पानी, टेलीफोन और बिजली आदि की सुविधाएं रोक दी जाती हैं। कुछ घंटों से लेकर कई दिनों तक इसकी अवधि खिंच सकती है। कई जगह से समाचार मिले कि घिरे हुए व्यक्तियों को घेराव का बोझ सहन न कर पाने के कारण दिल के दौरे और मानसिक असंतुलन का शिकार होना पड़ा। एक कारखाने के इंजीनियर को छोटे-से कमरे में बन्द कर १००० वॉट के चार बल्ब लगातार जलाकर रखा गया। एक और अधिकारी को जबरदस्ती भट्ठी के सामने इतनी देर खड़ा रखा कि वह बेहोश होकर गिर पड़ा। कलकत्ता के ही एक अन्य ५० वर्षीय अधिकारी को चौदह घंटे धूप में खड़ा रखा गया। और भी अनेक विश्वसनीय, अविश्वसनीय समाचार पढ़ने को मिलते रहते हैं। इस तरह शारीरिक और मानसिक यंत्रणा घेराव का आवश्यक अंग बनने लगी।

कोई आश्चर्य नहीं कि इन अत्याचारों से तंग आकर अधिकारियों को अदालत की शरण में जाना पड़ा। जे० इंजीनियरिंग वर्क्स उच्च न्यायालय तक पहुंच गया। इस सिलसिले में पश्चिम बंगाल सरकार की श्रम-नीति पर भी विचार-विनिमय हुआ जो कि समस्त वैधानिक गतिविधियों में, जिनमें हड़ताल और घेराव भी सम्मिलित हैं, पुलिस का हस्तक्षेप अनुचित मानती है। आखिरकार संयुक्त मोर्चा सरकार ने एक विज्ञप्ति जारी की जिसमें जिला अधिकारियों और कलकत्ता के पुलिस कमिश्नर को स्पष्ट आदेश दिया गया था कि उद्योग-संस्थानों पर घेराव की स्थिति में तब तक पुलिस न भेजी जाए जब तक श्रम-मंत्री की सहमति व निर्देश न मिल जाए। जे० इंजीनियरिंग के केस पर मुख्य न्यायाधीश ने निर्णय दिया कि उनपर किया गया घेराव गैरकानूनी था। और श्रममंत्री का पुलिस का हस्तक्षेप कराना भी अनुचित था। न्यायालय के निर्णयों का सदा से सम्मान किया जा रहा है, और उनकी अवहेलना करना अपने-आपमें उच्चतम अपराध की कोटि में आता है। किन्तु बंगाल में एक विचित्र ही स्थिति दिखाई दी। उच्च न्यायालय की घोषणा के बावजूद बाद के घेराव में भी पुलिस अलग-थलग ही रही। ऐसा कैसे हो गया? उत्तर विचित्र किन्तु स्पष्ट है—हर राज्य की पुलिस अपनी सरकार से आज्ञा ग्रहण करती है। बंगाल की पुलिस भी अपनी सरकार की नीति के अनुसार आचरण करती रही। न्यायालय के निर्णय से उसे कोई मतलब न था। स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रही। घेराव भी बदस्तूर जारी रहे और व्यवस्थापकों की असुरक्षा की भावना भी कम न हुई।

जब इन घेरावों के अमानुषिक कृत्यों की निन्दा की जाती है तो श्रमिक वर्ग पूछता है कि क्या मजदूर के परिवार को जीवन भर आधा पेट भोजन देना, उसके बच्चों को शिक्षा की सुविधा से वंचित रखना, मजदूर से जानवर से बदतर स्थितियों में काम करवाना—नृशंस और अमानुषिक नहीं है? जब उससे कहा जाता है कि अत्याचार को अत्याचार से ही दूर करने का प्रयत्न कहां की बुद्धिमानी है तो उसका उत्तर होता है कि हर सिद्धि के लिए बलि चढ़ानी पड़ती है। इतिहास साक्षी है। मार्टिन लूथर द्वारा पोप की सत्ता का स्खलन, फ्रांस की क्रांति, रूस की क्रांति सब यही दुहराते हैं। इधर उद्योगपति अपनी मजबूरी बयान करते हैं। उनके अनुसार, पिछली दशाब्दी में मजदूर की दशा कहीं-से-कहीं आपहुंची है। आज उसे जितनी सुविधा और अधिकार प्राप्त हैं, उनकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इसके विपरीत व्यापार को जबरदस्त मंदे का झटका लगा इसलिए अनेक कपड़ों की मिलें बन्द हो गई हैं। एक समय आया, जब मालिक नियत से अधिक मूल्य देने को तैयार था। लेकिन कपास गायब था। इंजीनियरी उद्योग के सामने पहले सामान की मांग-ही-मांग थी और आज सामान-ही-सामान था—उसकी मांग नहीं थी। ये सब परेशानियां और ऊपर से घेराव?

सत्याग्रह, धरना, हड़ताल—सभी आधुनिक राजनीति के दाव-पेंच हैं। जिसके हाथ में अधिकार, धन अथवा शस्त्र की शक्ति नहीं है, उसकी सहायता से ही कर पाते हैं। पहले समाचारपत्र हड़ताल की खबरों से भरे रहते थे और आज घेराव भी उसमें आ मिला है। सारे श्रमिक-संघ अपनी हर मांग के लिए हड़ताल की धमकी देते थे। धीरे-धीरे मालिकवर्ग इन धमकियों की आजमाइश पर उतर आया। मिलों में हड़ताल हुई और मालिकों ने तालाबंदी कर दी। कुछ अर्से बाद स्थिति यह हो जाती थी कि देश और मजदूर दोनों मिल अथवा संस्थान खुलवाने, काम चालू करवाने के लिए पूरे प्रयत्न प्रारम्भ कर देते थे। न देश नुकसान झेल सकता और मजदूर के घर में तो चूल्हा ही बुझा पड़ा रहता था। इस सबमें हानि मजदूर-संघ को भी उठानी पड़ती थी—विश्वास और क्षमता दोनों की। यह आवश्यक हो गया था कि कोई और जोरदार मार्ग वे ढूंढकर अपने प्रभुत्व, प्रभाव को बनाए रखें। मजदूर की उन्नति का रास्ता भी लगभग बन्द-सा दिखाई दे रहा था। ऐसे में दो नये हथियार सामने आए—तालाबंदी का ही विस्तृत पर्याय—'बंद' और अधिकारियों पर मात्र धनहानि के भय से हटकर अन्य व्यक्तिगत और मानसिक तात्कालिक दबाव डालने वाला 'घेराव'।

हो सकता है कि इन हथियारों के प्रयोग से श्रमिक-नेताओं की साख फिर बनी हो और किसी मात्रा में श्रमिकों ने भी कुछ उपलब्ध किया हो किन्तु अंतर्ध्वंस का यह रूप बहुत भयंकर नैतिक अवपरकता का परिचायक है। बन्द के ही एक मूर्त रूप को ले लें। बंगाल में २४ घंटे की अवधि का, सरकार-नियोजित, प्रदेश-व्यापी बन्द हुआ। यह बन्द राज्य की खाद्य-समस्या के प्रति केन्द्र के 'असहानुभूतिपूर्ण' रवैये के विरुद्ध किया गया था। सचिवालय, डाक-तार विभाग, रेल, ट्राम, हवाई अड्डे और बन्दरगाह का यातायात, शेयर बाजार सब बन्द हो गए। उस चौरंगी पर, जहां आए दिन ट्रैफिक-जैम होते रहते हैं, लोग बैठे ताश पीट रहे थे और मजा यह कि बन्द के कारण अन्न से भरे सात सौ रेल के डिब्बे भी प्रदेश भर में रुके पड़े रहे। इस बन्द में तथा अन्य बन्द में एक खास फर्क था। इसमें राज्य-सरकार ने घोषणा कर दी थी कि वह भी एक दिन के लिए शासन नहीं करेगी।

इससे पहले ही बंगाल के छः मंत्री अन्न की तलाश में जा चुके थे नई दिल्ली। वे वहां से आश्वस्त होकर लौटे कि सचमुच केन्द्र की झोली में इतने हाथ हैं कि इनकी मुट्ठी में इससे और अधिक अन्न नहीं आ सकता। फिर भी बंगाल-बन्द होकर रहा। तो क्या है—'बन्द'? ये घेराव किसी सिद्धि का माध्यम न होकर स्वयं सिद्धि ही बन गए हैं? पश्चिम बंगाल की हालत देखकर देश के सभी राज्य सतर्क हो गए। उत्तरप्रदेश, केरल, मद्रास, तमिलनाडु, महाराष्ट्र जैसे अनेक उद्योग-प्रधान राज्यों ने एकमत होकर घेराव की निन्दा की और कहा

कि वे मजदूर के इन हथकंडों को सहन नहीं करेंगे। स्वयं पश्चिम बंगाल में भी अनेक ऊहापोह मचे। मैसूर सरकार ने बंगाल के उद्योगपतियों को अपने यहां उद्योग प्रारम्भ करने का न्योता दिया। केरल की ओर से भी इसी प्रकार का निमंत्रण प्रेषित हुआ। बंगाल की सरकार को एक अन्य वामपंथी सरकार से इस प्रकार के व्यवहार की, और राज्य की सम्पत्ति बाहर ले जाने के प्रयत्न की उम्मीद कभी नहीं थी। संयुक्त मोर्चा पदाधिकारियों के घेराव 'बूमेरेंग' का भी काम करने लगा था। नक्सलवादियों से प्रभावित राज्य, बिजली बोर्ड की यूनियन ने अपने संघ को पुनर्मान्यता दिलाने और कुछ कर्मचारियों को नौकरी से हटाने के नोटिस के विरुद्ध जलढाका बिजलीघर के डाक बंगले में उद्योगमंत्री सुशील-कुमार धाड़ा का चार दिन तक घेराव किए रखा। प्रत्युत्तर में धाड़ाजी ने भी भूख-हड़ताल कर दी। मानना पड़ा कि घेराव 'दुधारी तलवार' है। फिर भी घेराव की बाढ़ रोके न रुकी। आज 'हिन्दुस्तान स्टील', तो कल 'घाटगे पाटिल उद्योग' में तो परसों 'कोल्हापुर इंजीनियरी उद्योग' में। लगा, सभी उद्योग इसमें बह जाएंगे।

असल में घेराव के खतरे से हमें तभी सावधान हो जाना चाहिए था जब इसके चलते पहली संयुक्त मोर्चा सरकार में पहली अनबन हुई थी। यह मतभेद मामूली नहीं था। इसने पूरी सरकार की संयुक्तता को छिन्न-भिन्न कर दिया था और परिणामस्वरूप बंगाल में राष्ट्रपति शासन घोषित किया गया था। बावजूद इसके दूसरी संयुक्त मोर्चा सरकार 'घेराव' की समर्थक रही और वही क्यों, हर अभावग्रस्त वर्ग ने इसकी छत्रच्छाया स्वीकार करना शुरू कर दिया। यदि देश की हालत यह हो जाए कि घेराव ही उपलब्धि का एकमात्र उपादान रह जाए तो हमें प्रजातंत्र का सपना भुला देना चाहिए।

आपात्काल की अनेक उपलब्धियों में प्रायः पूर्ण औद्योगिक शान्ति को महत् उपलब्धि के रूप में रेखांकित किया गया और यह दावा भी रहा कि इस समय निर्बाध उत्पादन हुआ तथा पहले की सी संख्या में, श्रम-दिवसों की हानि, हड़ताल या तालेबन्दी के कारण नहीं हुई। आंकड़ों के अनुसार, १९६४ में ६.७२ लाख और १९७५ में ५.९ लाख श्रम-दिवसों की हानि के अनुपात में १९७६ के संदर्भ में एक रोचक तथ्य सामने आता है। इस वर्ष के उत्तरार्ध में केन्द्र और राज्य दोनों क्षेत्रों में श्रम-हानि का क्षेत्र मुख्यतः तालेबन्दी के कारण बढ़ा। लेकिन फिर भी यह अपेक्षाकृत 'मौन' के वर्ष रहे।

हड़ताल, घेराव और तालेबन्दी के फलस्वरूप होने वाली श्रम-दिनों की हानि क्रमशः सबसे अधिक पश्चिम बंगाल (७.०७ लाख), तमिलनाडु (०.७९ लाख), केरल (०.२० लाख), और महाराष्ट्र (०.१७ लाख) में हुई। औद्योगिक दृष्टि से सर्वाधिक समय की हानि, उत्पादन क्षेत्र में (९·१४ लाख) हुई, फिर

खदान और उत्खनन में (०.२६ लाख), साम्प्रदायिक, सामाजिक और वैयक्तिक सेवा में (०.०६ लाख) और परिवहन तथा प्रसारण में (०.०७ लाख)।

जनता सरकार ने श्रमिक वर्ग के मूलभूत अधिकार दिलाने के लिए अपने ढंग से काम शुरू किया। सर्वसम्मत-सामंजस्य और मतैक्य की त्रिपक्षीय मशीनरी की धूल झाड़कर उसे खड़ा किया गया और यह तय हुआ कि इस कम्प्यूटर की मदद से श्रम-नीति का राष्ट्रीय स्तर पर सामंजस्य ढूंढा जाएगा। भारतीय राष्ट्रीय मजदूर संघ ने भी एक वक्तव्य में जोर-शोर से घोषणा की कि जिम्मेदार मजदूर-संघ आन्दोलन गांधीवादी ही है—वह अमानवीय हथियार का प्रयोग विवाद सुलझाने के लिए नहीं करेगा। भारतीय श्रम-सम्मेलन की ओर से भी अनेक आदर्श प्रस्ताव सामने आए। उनकी भी आवाज वही थी। किसी भी पक्ष की ओर से दबाव और उल्टे-सीधे तरीकों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। धमकी और अशिष्ट व्यवहार आपसी विश्वास को तोड़ते हैं और प्रतिपक्ष को कट्टर प्रतिक्रिया पर उकसाते हैं।

वार्ते-वार्ते-वार्ते—सिद्धान्त ही सिद्धान्त!

इस सबके बीच दिसम्बर, १९७७ में कानपुर स्वदेशी मिल में घटित दुर्घटना एक विस्फोट बनकर सामने आ खड़ी हुई। अलग-अलग पक्षों ने अलग-अलग तत्वों को जिम्मेदार ठहराया। 'स्वाधीन प्रेस' ने अपने-अपने स्वामियों का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में मनमानी आजादी का इस्तेमाल किया और सामान्य जनता हरे-नीले-लाल चश्मों से इस भयंकर अभिनय को देखने पर मजबूर रही। तथ्य इस प्रकार संयोजित किए जा सकते हैं—वेतन न मिलने से श्रमिकों का कष्टजनित आक्रोश, मिल मैनेजर का निर्वस्त्र अवस्था में दो दिन तक घेराव, राज्य-सरकार की ढुलमुल नीति और वायदों की कच्ची नींव पर टूटती मजदूरों की उम्मीदें।

६ दिसम्बर, ७७ को स्वदेशी मिल में आतंक छा गया। कर्मचारियों ने मिल के दो अफसरों का घेराव किया। पुलिस-दल आ पहुंचा और मिल के अहाते में जमकर युद्ध हुआ। कर्मचारियों के हथियार थे—ईंट, लोहे की छड़ें और पाइप, तेजाब व आग। और पुलिस आसू-गैस, लाठी-प्रहार से गोली चलाने तक जा पहुंची। नौ व्यक्ति मारे गए। मजदूरों ने क्रुद्ध होकर मिल के दो अफसरों की हत्या कर डाली। पुलिस सुपरिंटेंडेंट बुरी तरह घायल हो गया, २३० मिल कामगार गिरफ्तार हो गए और मिल बन्द कर दी गई।

सिद्धान्त हर बार बनाए जाते हैं कि हिंसा न हो, तोड़-फोड़ न हो, लेकिन हिंसा के विस्फोट के कारणों का उन्मूलन करने वाला कोई चाणक्य दिखाई नहीं देता और स्थिति यथातथ्य बनी हुई है। कोई भी श्रम-संगठन केन्द्र द्वारा प्रस्तुत किसी ऐसी समझौता-नीति का समर्थन नहीं करेगा जो श्रमिकों की स्वाधीनता को चोट पहुंचाती हो। मजदूरों की सही मांगें पूरी कराने में राज्य-सरकार मध्यस्थता

करे, स्वायत केन्द्र वीच-बचाव करके समझौता करवाए, यह भी मजदूर संघों को मान्य नहीं। यदि ऐसा संभव होता तो समस्या ही क्या थी? इस प्रकार की मध्यस्थता में चोट कौन खाएगा, किसीसे छिपा नहीं है। ले-देकर श्रमिकों के पास एक ही चारा रह गया है कि वे अपनी यूनियन के माध्यम से सीधे मोल-भाव करें। जब दूसरा कोई बस न चले तो हड़ताल कर दें और वह भी काम न करे तो घेराव से अपनी बात मनवाएं। दूसरी ओर सरकार जी-जान से इस कोशिश में है कि हड़ताल और तालेबन्दी के खिलाफ कानून बन जाए और वर्तमान समझौते और मध्यस्थता, उपायों की जगह स्वतंत्र श्रम आयोग स्थापित हो जाए।

अब घेराव केवल मजदूर और मालिक, श्रमिक और धनिक वर्ग के बीच ही नहीं रह गया है। राजनीति की तरह यह हमारे जीवन की हर रग में प्रवेश कर गया है। आज दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति का घेराव हो रहा है—उनकी मेज पर जूतों सहित लड़के चढ़कर नाच रहे हैं तो कल मगध के उपकुलपति को चार घंटे के लिए घेरकर दफ्तर नारों से हिला डाला गया है। शिक्षा का क्षेत्र कभी राजनीति फूहड़पन और गुंडागर्दी की दलदल से अछूता माना जाता था। आज वहीं से नये राजनेता 'अमरबेल' की तरह फूट रहे हैं। लगता है, जैसे देश मांगों से गूंज रहा है और हर व्यक्ति के पास एक ही भाषा है—घेराव की भाषा। एक ही लाठी से सब हांके जा रहे हैं।

संकीर्ण उन्माद की तुरही : शिवसेना

बम्बई, एक सुन्दर, योजनाबद्ध और सार्वभौम नगर है। यहा २२७ भाषाएं बोली जाती हैं और अनेक देशी-विदेशी, भाई-चारे का दंभ भर, यहा रहते आए हैं। इसी बम्बई में कांग्रेस पार्टी ने सन् १८८५ में अपना प्रथम अधिवेशन किया। महात्मा गांधी ने बम्बई को अपना राजनीतिक मुख्यालय बनाया और यहा ही १९४२ का ऐतिहासिक प्रस्ताव पास हुआ, 'अंग्रेजो, भारत छोडो।' पं० नेहरू कहते थे कि 'मैं चौपाटी की रेत मे प्रेम करता हूं और दिल्ली सेक्रेटेरियट के अंधेरे सम्पन्थो में मेरा दम घुटता है। अरब महासागर की लहरो से घिरा, मलाबार की पहाड़ियों से सजा यह शहर वास्तव में विशाल और प्रगामी है। यहा गोपालकृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक, वीर सावरकर और जस्टिस रानाडे के व्यक्तित्व और कृतित्व की मुहर लगी है। महाराष्ट्र के खलिहान, राज्य के ६४ प्रतिशत लोगों को जीविका प्रदान कर रहे हैं। इस जमीन का ५८ प्रतिशत भाग कृषि के काम में आता है। (सारे देश में कृषि योग्य जमीन केवल ४४.५ प्रतिशत है) फलतः इसकी समृद्धि के प्रतीकस्वरूप यहा कपड़े की मिलों और कल-कारखानों के अतिरिक्त आयात-निर्यात दफ्तर और बड़े-बड़े प्रकाशकों से लेकर फिल्म-संसार की सारी गतिविधिया एकत्र हो गई हैं और ग्रेटर बम्बई का घनत्व २२,३२३ प्रति वर्ग मील से ऊपर आ चुका है।

१९५७ के चुनाव में महाराष्ट्र कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ। परन्तु ग्रेटर बम्बई के कई भागों में उसे गहरा धक्का लगा। जब पांच मन्त्री हार गए तो बात यह कहकर आई-गई कर दी गई कि विरोधी दल भाषा के प्रश्न को लेकर एक हो ३२ सीटें मिली और उसके २ उम्मीदवारों की जमानतें जब्त हो गईं। नेहरू ने इस 'भाषाई पलड़े के झुकाव' को अस्थायी बताया और कहा कि कांग्रेस दंगों से डरकर

बम्बई के लिए अपनी दो-भाषाई नीति को नहीं बदलेगी।

१ मई, १९६० को बम्बई राज्य का विभाजन महाराष्ट्र और गुजरात राज्यों में कर दिया गया। मुख्यमन्त्री-पद की शपथ लेने के बाद श्री यशवन्तराय चह्वाण ने कहाकि 'उनकी सरकार सब लोगोंके साथ न्याय औरएकता का बरताव करेगी। याद रहे कि वे सब पहले भारतीय हैं, और बाद में मराठी।' श्री चह्वाण ने यह भी कहा कि 'बम्बईका अंतर्राष्ट्रीय रूप कायम रहेगा।' 'जनता की वाणी' नेता बोलता ही रहता है। यह भी है ही कि जब वायदों को आकार देने का समय आता है तो विवशताएं दैत्याक र हो जाती हैं। कुछ ही अरसे बाद चह्वाण के हाथों शिवाजी की प्रतिमा बम्बई में स्थापित हुई। शायद यही शिवसेना के स्फुरण की भूमिका थी। यों शिवसेना का जन्म होना और पनपना स्वाभाविक ही था, क्योंकि पनपने के लिए जमीन उपजाऊ थी। बम्बई के उद्योग प्रतिसार और संकुचन के शिकंजे में कसे थे, भारत-पाकिस्तान युद्ध खत्म ही हुआ था और बहुत-से दफ्तर और फैक्टरियों में छंटनी हो रही थी। बम्बई की वामपन्थी पार्टियां मैसूर के साथ सीमा-युद्ध में व्यस्त थीं, और उनकी नजरें जनमत-संग्रह पर टिकी हुई थीं। ऐसा लगता था, जैसे उनकी सारी सिद्धि-सफलता बेलगांव और निप्पानी को अपनी सीमा में खींच लेने में ही केन्द्रित हो।

इस दृश्य पर उभरा एक पत्रकार व व्यंग्य चित्रकार बाल ठाकरे, शिवसेना का पिता और संचालक, जिसने सामयिक स्थिति को साम्प्रदायिकता का पुट देकर मराठी भाइयों के दिल-दिमाग को मोहाविष्ट कर लिया। १९६८ में इस सेना के तीस लाख सिपाही थे और ठाकरे के कथनानुसार सारे महाराष्ट्र में सेना का जाल फैला था। सेना के हितैषी मुख्यतः मराठा नौजवान थे। कोयना-भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए इस सेना ने लाखों की राशि एकत्र की थी। बम्बई नगर निगम चुनाव में सेना ने ५०,००० से अधिक झण्डे दस रुपये प्रति झण्डे की लागत पर तैयार करवाए थे। चुनाव से दो दिन पहले २ लाख लोगों की एक रैली शिवाजी पार्क में हुई, जिसमें करीब २०,००० स्वयंसेवक थाना और डोम्बिवली से ट्रकों और रेलगाड़ी में भरकर बम्बई आए थे, जिनके लिए पांच-पांच रुपया पाकेट खर्च की व्यवस्था भी की गई थी। लाखों इश्तहार बांटे गए। बाल ठाकरे के साप्ताहिक पत्र 'मार्मिक' के अतिरिक्त चुनाव के दिनों में रोज 'सांझ मार्मिक' भी बम्बई निवासियों को पढ़ने को मिला। यह पैसा कहां से आ रहा था? किन दिमागों का करिश्मा थीं ये सारी सेनाएं—शिवसेना, नागसेना, तमिलसेना, हिन्दीसेना, लचितसेना? चीन की लालसेना की तरह भारत में जगह-जगह उमड़ आईं ये। मजे की बात यह है कि इस शिवसेना के पास कुल जमा पूंजी खातों में दर्ज थी—३५०० रुपये।

यह एक अनकहा सत्य है कि अधिकतर निजी सेनाओं की बागडोर किसी-न-

किसी विदेशी सत्ता के हाथ में रहती है यद्यपि हर एक ऐसी सेना निशान स्वदेशी और पूर्णतः परम्परा-हितैषी होने का दम भरती है। आज के संसार में तोड़-फोड़ और षड्यंत्र तेजी से विश्व कूटनीति का प्रबल हथियार बनते जा रहे हैं। इनका इस्तेमाल लेटिन अमेरिका, मध्य-एशिया, अफ्रीका, टर्की और इण्डोनेशिया में सफलता के साथ हो चुका है। यह स्पष्ट होता जा रहा है कि तोड़-फोड़ और षड्यंत्र एक ऐसा सस्ता और कारगर रास्ता है, जिसके जरिये किसी भी देश पर काबू पाने का काम आसान किया जा सकता है। खुलेआम आक्रमण करना बचपना है जिसकी निन्दा गोलमेज के गिर्द बैठकर छोटे-से-छोटा मुल्क कर सकता है। आज का युग छिपी मार का है और इसका नुस्खा भी बेहद आसान है। किसी समस्या को लेकर लोगों में पर्याप्त घृणा जगा दीजिए क्योंकि घृणा में ऐसे गतिशील परिवर्तन की शक्ति है जो उभरती है और विभाजन करती है। इसमें यदि जातीयता, प्रादेशिकता या भाषा का सम्मिश्रण कर दिया जाए तो बस दवा सौ पैसे काम कर गई!

भाषा और जातीयता, विभाजन की शक्तिशाली तलवारें थी ही—अब एक तीसरा हथियार हाथ में है—बेरोजगारी। एक बार इस घृणा की मशीन को चला दीजिए। यह मशीन 'ओवर टाइम' काम करके भी नहीं थकेगी। विदेशी सहायता कभी लज्जाजनक और हीन लगने लगी थी, अब इस काम के हेतु उसीका स्वागत किया जाना है जैसाकि नागा और मीजो के दृष्टान्तों से स्पष्ट है। आधुनिक भारत के इतिहास में इस विष का प्रयोग दूसरी बार किया जा रहा है। धर्म को लेकर डांवाडोल स्थिति और १९४७ में देश को दो टुकड़ों में बांटने का काम अंग्रेजों का था। आज ये सेनाएं देश को और छोटे-छोटे कबूतरखानों में बांटना चाह रही हैं। यों भी देश अनगिनत समस्याओं से घिरा है और प्रशासकीय दुर्बलताओं के कारण इन सेनाओं के सम्मुख कटिबद्ध होने को तैयार नहीं है। ठाकरे ने कट्टर कम्युनिस्ट-विरोधी होने का डंका बजाकर बम्बई के पूंजीपतियों के दिल भी जीत लिए हैं। सरमायेदार, ठाकरे द्वारा ट्रेड यूनियनों से छुटकारा पाने की उम्मीद करते हैं।

शिवसेना पर तो बस दो धुन सवार हैं—'मराठों को रोजगार दिलाना और कम्युनिस्टों का सफाया।' अगर इन दोनों बातों से सी० आई० ए० (सेंट्रल इंटेलिजेंस एजेंसी) सहमत है तो वह उससे रुपये-पैसे की मदद लेने में नहीं हिचकेंगे, ठाकरे साहब ने कहा है।

सेना-सदस्य ठाकरे को 'प्रमुख' कहते हैं। उन्हें इस बात में भी कोई आपत्ति नहीं कि उन्हें डिक्टेटर कहा जाए, क्योंकि उनका विश्वास है कि तानाशाही ही अकेला वह रास्ता है जो देश की रक्षा कर सकता है। 'देश को एक हिटलर की आवश्यकता है।' शायद इसीलिए मार्क्सवादियों ने ठाकरे को फासिस्ट करार दिया

है और उधर ठाकरे ने जेहाद बोल ही रखा है, 'कम्युनिस्टों ने हमें परेशान कर दिया है। अगर उन्होंने और कुछ बदतमीजी शुरू की तो बम्बई की सड़कों पर ही उनका सफाया कर दिया जाएगा।' शिवसेन की गतिविधियों पर टिप्पणी करते हुए एक विदेशी पत्रकार ने भारत से लौटने के बाद लिखा कि बम्बई में 'कूक्लक्स क्लान' ने जन्म ले लिया है।

सेना की गतिविधियां सचमुच अधिकांशतः इसी प्रकार की प्रतिक्रियाओं को जन्म देती हैं। वास्तव में यह सेना स्वयं भी मूलतः प्रतिक्रियात्मक है, चाहे वह उन्मूलनकारी प्रतिक्रिया कम्युनिस्टों के विरुद्ध हो, चाहे दक्षिण भारतीयों के खान-पान, रहन-सहन, नौकरी-पेशे और महाराष्ट्र में उनकी किसी भी प्रकार की पैठ के विरोध में। प्रतिक्रिया-दर-प्रकिक्रिया के स्वाभाविक चक्र में ऐसी ही सेनाओं ने महाराष्ट्रवासियों के विरुद्ध मैसूर, मद्रास और केरल में जन्म ले लिया है। यह भावना मन्त्री-स्तर पर पहुंच गई। मैसूर विधानसभा में एक मन्त्री महोदय ने कहा कि राज्य सरकार इसका भरसक प्रयत्न करेगी कि मैसूर स्थित केन्द्र-संचालित उद्योगों में सिर्फ स्थानीय लोगों को ही नौकरी मिले। इस प्रकार की संकीर्णताएं उन्नति के लिए जूझते हुए देश में अक्सर जन्म ले लेती हैं। भारत में भी यह मनोदृष्टि देश की राजनीतिक डांवाडोल स्थिति का प्रतिबिम्ब है। श्री वी० पी० नाइके ने मुख्यमन्त्री-पद संभालने के तुरन्त बाद महाराष्ट्र-स्थित दक्षिण भारतीय अल्पसंख्यकों को आश्वासन दिया था कि उनके हक सुरक्षित हैं और कोई खतरा उन्हें छू न सकेगा, लेकिन खतरा आया और उन्हें नुकसान भी पहुंचा। असन्तोष फैला और अवमूल्यन तथा बढ़ती हुई कीमतें सुलगती हुई लकड़ियों को जैसे और कुरेदते रहे हैं।

सेना के अंकुर तो उसी समय फूट चुके थे, जब १५ साल पहले वामपन्थी पार्टियों ने 'भाषा-राज्य' आन्दोलन उठाया था। अपनी निष्पत्ति में यह 'घृणा करो' आन्दोलन था। सम्पूर्ण महाराष्ट्र समिति ने १९५७ में नगर निगम चुनाव इसी नारे के बल पर धमाके के साथ जीते थे। और अब शिवसेना महाराष्ट्रवासियों के हकों की अग्रगामी प्रतिनिधि समझी जाने लगी।

जिस दिन बम्बई नगर निगम के चुनाव-परिणामों की घोषणा हुई, उसी रात झगड़े-फसाद भी शुरू हो गए। पुलिस को दो बार गोली चलानी पड़ी। अगले दिन फिर पुलिस ने गोली चलाई जिसमें मौत के भी समाचार मिले और फिर विधानसभा में कार्य-स्थगन प्रस्ताव आ गया। मुख्यमन्त्री ने इस सम्बन्ध में एक आश्वासन दिया जिसे लोगों ने हंसकर भुला दिया, क्योंकि कुछ सप्ताह पहले ही मुख्यमन्त्री ने कहा था कि मद्रास में बनी हिन्दी फिल्में बम्बई के सिनेमाघरों में दिखाई जाएंगी। सेना-प्रमुख ने इनका प्रतिवाद किया था और जीत सेना की ही हुई थी।

कृष्ण मेनन और एस० जी० बर्वे की चुनाव-दौड़ में मेनन जैसे अनुभवी और

प्रख्यात व्यक्ति को हार खानी पड़ी थी। क्या यह कांग्रेस व सेना के भीतरी समझौते का ही कमाल न था? एक बात यह भी थी कि कांग्रेस का विचार था कि शिवसेना द्वारा उसे उस खिड़की को बन्द करने में मदद मिल रही है जिससे वामपन्थी 'दूषित' हवा आती है। फलस्वरूप लोकसभा के लिए कांग्रेस के श्री बर्वे विजयी हुए और उसके बाद श्रीमती तारा सप्रे। लेकिन बम्बई नगर चुनाव के बाद विजयी कांग्रेसी का कथन भी काबिलेगौर है: "अच्छा होता अगर मैं हार गया होता। रोज मुझे ढेर-से चेतावनी पत्र और धमकी-भरे फोन-काल तो न मिलते।"

शिवसेना ने कहा कि वह मद्रास में बनी हिन्दी फिल्मों को लेकर धरना देगी क्योंकि हिन्दी-विरोधी विद्यार्थी आन्दोलन के बाद मद्रास में बम्बई की हिन्दी फिल्में बन्द कर दी गई थीं। एक दक्षिण भारतीय फिल्म प्रोड्यूसर ने फौरन बम्बई का टिकट कटाया और सीधा ठाकरे के पास पहुंचा, जैसेकि वही बम्बई सरकार का वैधानिक प्रतिनिधि हो। इसके बाद उसकी फिल्म बम्बई में दिखाई जाने लगी। यह ठाकरे की महन्ती का जादू था। चह्वाण ने १९६० में ठाकरे के 'मार्मिक साप्ताहिक' का उद्घाटन किया था जिसका वामपन्थी पक्ष ने विरोध किया। ठाकरे और उनकी सेना ने इस बात से फायदा उठाया। उन्होंने कहा कि श्री चह्वाण को अ-महाराष्ट्रीय बदनाम कर रहे हैं क्योंकि केन्द्र में वे अकेले महाराष्ट्री थे। चह्वाण की तरफदारी करके सेना को एक और लाभ हुआ। चह्वाण का मध्यवर्गीय महाराष्ट्रियों पर अधिक प्रभाव था। इस वर्ग की यही धारणा बनी कि यदि चह्वाण भीतर से सेना के साथ हैं तो सेना अच्छी संस्था है और इसे हमारा सहयोग मिलना चाहिए।

यह सब चल ही रहा था और न जाने कब तक चलता रहता कि देश में राजनीतिक उथल-पुथल ज्वालामुखी की तरह फट पड़ी। इसका असर बम्बई की शांति बिखेर देने वाले प्रतिदिन के 'बन्द' का आह्वान करने वाली, जीवन की गति को अपनी ठोकर में समझने वाली, उद्धत शिवसेना पर कैसे न पड़ता! यों भी अतिवादी सीमा तक खींचने से सुर टूट जाता है, और शिवसेना की केन्द्रीय विचारधारा अतिवाद से परिचालित थी—इससे कोई अपरिचित नहीं। इसके अतिरिक्त शिवसेना के हौंसले भी बुलन्द होते चले जा रहे थे। एक छोटी साम्प्रदायिक पार्टी से वह एक राजनीतिक दल का रूप ले चुकी थी और चुनावों में बढ़-चढ़कर भाग लेने लगी थी। ज्वालामुखी के विस्फोट में जब तमाम राजनीतिक पार्टियां लावे और पत्थरों के नीचे दबने लगीं तो ठाकरे ने यही श्रेयस्कर समझा कि उनकी पार्टी इस समय चुपचाप सिर छिपाकर लेट जाए और तूफान के गुजर जाने की इन्तजार करे। कृष्ण देसाई-हत्याकांड में शिवसेना की भूमिका के कारण यह स्थिति और भी आवश्यक हो गई। तीसरा कारण था सन् ७० के चुनाव-परिणाम जिसमें शिवसेना की उम्मीदों को गहरा धक्का लगा था।

ठाकरे की यह 'मौन-नीति' रंग लाई। आपातस्थिति की घोषणा के बावजूद शिवसेना प्रतिबन्ध के शिकंजे से बच निकली। ठाकरे को इस छूट से यह कहने का मौका मिल गया कि 'शिवसेना एक देशभक्त संगठन है, जो किसी भी खतरे के समय महाराष्ट्र से पहले राष्ट्र को महत्त्व देता है।'

जनवरी, १९७७ में लोकसभा चुनावों की घोषणा के तुरन्त बाद शिवसेना ने घोषणा की कि वे इस तमाम स्थिति और शांति के बीच तटस्थ रहेगी। ठाकरे ने इस तटस्थता को परिभाषित करते हुए बयान दिया कि उनका दल कांग्रेस पार्टी का नहीं, व्यक्तिगत रूप से श्रीमती इंदिरा गांधी का समर्थन करेगा।

लेकिन ६ महीने होते-न-होते परिस्थितियों के दबाव के साथ-साथ ठाकरे को रंग बदलना पड़ गया। १९ जून, १९७७ को शिवसेना-भवन के उद्घाटन अवसर पर बाल ठाकरे ने जनता पार्टी के हर रचनात्मक कार्य में सक्रिय सहयोग देने का वादा करते हुए कहा कि सेना अपने इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ना चाहती है और अन्य राजनीतिक दलों से जुड़े अपने कड़वे अतीत को हमेशा के लिए भुलाना चाहती है।

···और फिर एक दिन अखबारों ने सूचना दी कि ठाकरे ने मोरारजी देसाई को मय जनता पार्टी के तानाशाही ताकतों का वाहक ठहराते हुए श्रीमती गांधी के पुनः सत्ता में लौटने की आशा व्यक्त की थी।

इन सब परस्पर विरोधी नीतियों का जो नैसर्गिक परिणाम था, वह निकल-कर रहा। शिवसेना में करारी दरार पड़ गई। एक ओर खड़े थे मनोहर जोशी, प्रमोद नवलकर और सुधीर जोशी, जो जनता पार्टी से समझौता करने के समर्थक थे और खाई के दूसरी ओर थे दत्ता साल्वी, वमन महादिक, जो ठाकरे की तटस्थतावादी सीमारेखा के भीतर सेना को रखना चाहते थे।

भारतीय राजनीति के आकाश पर विभाजन का मौसम छाया हुआ था। दायें का दायां और दायें का बायां, बायें का बायां और बायें का दायां—दिग्भ्रम का पूरा समां मौजूद है। इसी तरह काले से सफेद के बीच सलेटी रंग के अनेक हल्के-गहरे शेड हैं। शिवसेना इस छूत से कैसे बची रह सकती थी, पहले, विभाजन, खंडित-स्थिति के परिचायक हुआ करते थे किन्तु आज उसका रूप द्रव है। कब कौन-सी धारा कहां मिलेगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। इसीलिए शिवसेना का विभाजन उसके टूटने का संकेत मानकर निश्चित नहीं हुआ जा सकता। उसके उत्स की जड़ें साम्प्रदायिक हैं। एक संकीर्ण वर्ग विशेष को लाभ दिलाने के लिए उसने अंगारा सुलगाया है। कोई-न-कोई हवा उसे झोंक देती ही रहेगी। ध्वंस से बचना है, तो जरूरी है कि आंखों से दृष्टि-संकोची पर्दे उतारे जाएं।

शिवसेना ने अपने अस्तित्व के दौरान, अनेक तरह के असंतोष जाहिर किए हैं। बम्बई के रेडियो स्टेशन से मराठी कार्यक्रम पर्याप्त मात्रा में प्रसारित नहीं

होते, बम्बई विश्वविद्यालय में मराठी-भाषा-विभाग उपेक्षित है, राज्य में ८५ प्रतिशत मकान गैर-मराठी लोगों के पास हैं, झुग्गियों में रहने वाले सबसे बड़ी संख्या में मराठे ही है। यदि उसकी सब शिकायतें मान भी ली जाएं तो इस समाधान को कैसे स्वीकारा जाए कि बम्बई के लाखों दक्षिण भारतीयों को 'लुंगीवाला' कहकर सदेह भगाओ और इतना सताओ कि उन्हें जान-माल का खतरा दिन-रात सालने लगे?

शिवसेना एक साल के आंकड़े दिखाकर शिकायत करती है कि केवल २२ प्रतिशत रोजगार मराठी लोगों को मिल पाए हैं। तिसपर भी हर रोज ३०० नये परिवारों को रोजगार की तलाश में बम्बई आने दिया जा रहा है। बात सही होते हुए भी शिकायत गलत है, क्योंकि महाराष्ट्र उस विशाल देश का एक हिस्सा है जिसमें बेरोजगारों की संख्या है दो करोड़। इसमें १० लाख से ज्यादा हाई स्कूल से लेकर एम० ए० तक शिक्षित हैं। इसी प्रकार इंजीनियरों की बेरोजगारी है। कमाऊ नागरिकों की स्थिति भी देखने वाली है। लगभग ३३ करोड़ ग्रामवासी सिर्फ ६८ पैसे प्रतिदिन पाकर काम चलाते है और एक करोड़ को तो केवल २७ पैसे प्रतिदिन ही मिल पाते है। रही महाराष्ट्र की बात तो इसपर भी ध्यान देना चाहिए कि लगभग ५२ लाख मराठे महाराष्ट्र के बाहर दूसरे राज्यों में बसे हुए हैं। यदि 'महाराष्ट्र मराठों के लिए' आंदोलन सफलता पाता है तो क्या वे सब वहां आराम से रह पाएंगे?

प्रधानमंत्री-आवास : लंबा, अनथक प्रयास

दिल्ली में मकान की समस्या देश की आजादी के साथ जन्मी और साल-दर-साल बड़ी होती चली गई। बुजुर्ग अर्थशास्त्रियों का मत रहा है कि आय का दस प्रतिशत मकान किराये के रूप में खर्च करनेवाला परिवार ही सुखी परिवार होता है। लेकिन आज के परिवार को पैंतीस से चालीस प्रतिशत, अपने बजट में 'सिर पर छत' के लिए निकालना पड़ता है। रिहायशी इमारतों की समस्या इतनी तीव्र है कि राजधानी में लगभग सत्तर प्रतिशत परिवार एक कमरे में रहते हैं। इनमें से चालीस प्रतिशत नई दिल्ली में और बाकी साठ प्रतिशत पुरानी दिल्ली में बिना किसी रसोई और शौचालय के गुजारा कर रहे हैं। १९६१ की जनगणना के अनुसार १६०,००० घरों की प्रत्यक्ष कमी थी और यह कमी दिल्ली की जनवृद्धि के साथ-साथ और भी बड़ी है। इसमें भारत-पाकिस्तान संघर्ष का भी हाथ है और बर्मा तथा अफ्रीका से आए निष्कासित भारतीयों का भी।

इस अभाव से हर कोई आक्रांत है। कहा जाए कि झल्ली वाले से लेकर प्रधानमंत्री तक, तो शायद अत्युक्ति न होगी। यों, दिल्ली में जगह की कमी मानना तो बचपना होगी। यहां राष्ट्रपति भवन है—३३० कमरा वाला, ३३० एकड़ जमीन पर फैला हुआ, जिसका प्रसिद्ध मुगल गार्डन ४४० वर्ग फुट में महकता है। यहां पथरीला विस्तार लिए बुद्ध जयन्ती पार्क है और एशिया का सबसे बड़े मंच वाला प्रेक्षागृह है—रवीन्द्र रंगशाला। कम-से-कम बीस बड़ी-बड़ी नई बस्तियां (लगभग ६० अनधिकृत छोटी बस्तियां) ऊंचे विशाल भवन, दुहरी चौड़ी सड़कें—सबके लिए जगह निकलती जा रही है। फिर प्रधानमंत्री के भवन की समस्या क्यों ?

कुछ अंग्रेज-दां कटाक्ष करते हैं कि भई, अंग्रेजों के जमाने में भारत के लिए एक प्रधानमंत्री की व्यवस्था होती तो उनके निवास की व्यवस्था भी अंग्रेज कर

गया होता। लेकिन हम हैं कि अपनी और सारी समस्याओं की तरह इसे भी सीने में चिपकाए बैठे हैं'''खैर, प्रधानमंत्री-निवास के लिए दिल में जगह की कमी मानी जा सकती है। हमारे प्रथम प्रधानमंत्री, पंडितजी, 'दिल के राजा' कहलाते थे। फिर भी २१ अगस्त, १९६३ को लोकसभा में एक हंगामा खड़ा हो गया, डा० राममनोहर लोहिया ने पूरे एक घंटे तक सदस्यों को हंसाया-रिझाया और यह प्रश्न उठाया कि जिस देश में एक ओर सत्ताईस करोड़ लोग तीन आने (१९ पैसे) रोज कमाते हैं, उसीमें दूसरी ओर सरकार के सबसे बड़े व्यक्ति पर २५,००० से ३०,००० रुपये प्रतिदिन कैसे खरचा जा रहा है? स्पष्ट ही उनका संकेत प्रधानमंत्री नेहरू की ओर था। डा० लोहिया की वक्तृता तमाम मापदंडों से अत्यंत प्रभावशाली थी।

गलत या सही, इस वक्तव्य ने पहली बार जनसाधारण की दृष्टि प्रधानमंत्री-निवास की ओर घुमाई थी। उस दिन से आज तक यह चर्चा किसी-न-किसी रूप में बदस्तूर बनी हुई है।

१९६४ में नेहरू के निधन के बाद जितनी तेजी से प्रधानमंत्री की खोज प्रारंभ हुई, शायद उससे भी ज्यादा तेजी से प्रधानमंत्री-आवास की ढूंढ मची। लालबहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री निर्वाचित हुए और जब तीनमूर्ति मार्ग पर स्थित प्रधानमंत्री-निवास में उनके आने की चर्चा उठी तो वे ऐसा न कर सके। नेहरू की गरिमा और व्यक्तित्व के आगे वे इतने विनम्र और भावुक थे कि उन्होंने तीनमूर्ति भवन को नेहरू-संग्रहालय बनाने की सम्मति दी और स्वयं १०, जनपथ पर रहते रहे। यह भवन प्रधानमंत्री की आवश्यकताओं के लिए इतना कम था कि बराबर की दूसरी कोठी भी ले ली गई और १, मोतीलाल नेहरू मार्ग और १०, जनपथ संयुक्त रूप से प्रधानमंत्री-निवास बन गए। दोनों भवनों में कुछ आवश्यक परिवर्तन भी कराए गए जिनके फलस्वरूप नई दिल्ली नगर पालिका ने नोटिस दे दिया कि यह रद्दोबदल गैरकानूनी है।

अभावुक दृष्टिकोण से विचार करने पर, कभी-कभी लगता है कि शास्त्रीजी की विनयशीलता और नेहरू-स्नेह ने ही (जो कि निस्सन्देह अधिकांश भारतीयों की भावनाओं का प्रतिबिम्ब था) एक समस्या खड़ी कर दी है जो आज तक सुलझ नहीं पाई।

दो वर्ष से कम इस कामचलाऊ निवास में रहने के पश्चात् भारत ने शास्त्रीजी को भी खो दिया। अब मौका था कि इसी स्थान को ठीक से निर्मित करके स्थायी प्रधानमंत्री आवास का रूप दे दिया जाता। किन्तु ऐसा हो पाने में भी बाधा आ गई। शांति-कार्य के लिए प्रयत्नरत शास्त्रीजी के आकस्मिक निधन के बाद तय किया गया कि उनका निजी कमरा जनता के दर्शनार्थ सदा के लिए उन्मुक्त कर दिया जाए। जनता की इच्छा का सम्मान किया गया और तीसरी

प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के निवास की खोज आरंभ हुई।

इतिहास की सुरक्षा स्मारकों से की जाती है। हर सड़क, चौराहे का नाम, संग्रहालय और प्रसिद्ध भवन, देश की राजनीतिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों की कहानियां होती हैं। दिल्ली में भी यमुना के किनारे राजघाट बना, शांतिवन बोया गया और फिर विजयघाट की स्थापना हुई। स्मारक बनाने के पीछे इतिहास की व्यापक दृष्टि होनी आवश्यक है। यों तो हर व्यक्ति और हर कृत्य अपने क्षण में महत्त्वपूर्ण होता है और प्रगति का पथ बनाता है किन्तु यह समाजशास्त्री का कर्तव्य है कि वह उस सिद्धि के स्थायी स्मृतिचिह्नों का संतुलन बनाए रखे। कहीं ऐसा न हो कि आने वाली पीढ़ियां हमपर दोपारोपण करें कि 'तुम स्मारक ही स्मारक बनाने में लगे रहे। हमारा भविष्य भी तुम्हारे हाथों में था—उसकी ओर तुमने ध्यान ही न दिया।'

श्रीमती गांधी जब प्रधानमंत्री चुनी गईं, उस समय वे सूचना एवं प्रसारण पद पर थीं। उनका निवास १, सफदरजंग रोड था जो प्रधानमंत्री-आवास की दृष्टि से नितांत अपर्याप्त था। रहने के कमरे, विदेशी मेहमानों के सत्कार का स्थान, भोजादि देने के लिए बड़े हॉल और सुरक्षा-प्रबंध सभीके लिए यहां जगह की कमी थी। फिर भी श्रीमती गांधी ने जहां-के-तहां बने रहना ही अधिक उचित समझा। यह प्रश्न उठाए जाने पर कि वे शास्त्रीजी वाले मकान में क्यों नहीं चली जातीं, तत्कालीन आवासमंत्री श्री मेहरचन्द खन्ना ने एक गोलमोल-सा उत्तर दे दिया और कहा कि श्रीमती गांधी एक छोटे बंगले में रहकर एक उदाहरण उपस्थित करना चाहती हैं।

१९६७ की लू-भरी मई में निश्चय ले लिया गया कि प्रधानमंत्री उपराष्ट्रपति के ६, मौलाना आजाद रोड पर स्थित बंगले में चली जाएंगी। यह भी निश्चित हुआ कि अब तीनमूर्ति मार्ग वाली कोठी में जाने की बात कभी नहीं उठेगी और यह भी कि अब वे जहां भी रहेंगी, उसे १०, डाउनिंग स्ट्रीट की तरह हमेशा-हमेशा के लिए स्थायी प्रधानमंत्री-निवास बना दिया जाएगा। यह भी हो सकता था कि एक नया भवन इस कार्य के लिए निर्मित किया जाए किन्तु भवन-निर्माण की बेहिसाब लागत को दृष्टिकोण में रखते हुए एक पुरानी इमारत में ही उलट-फेर करवाकर इस काम के लायक बना लेना श्रेयस्कर समझा गया।

तीनमूर्ति भवन यों सब दृष्टिकोणों से प्रधानमंत्री के उपयुक्त था किन्तु जहां उनके सर्वमान्य पिता सत्रह वर्षों तक रह चुके थे, वहां जाकर रहने में श्रीमती गांधी को स्वाभाविक झिझक महसूस हुई। उनसे यह कहा भी गया कि यदि इस भवन को कभी प्रधानमंत्री-भवन का रूप देना है तो यह काम केवल वे ही कर सकती हैं। वे ही वहां जाने में हिचक गईं तो कोई भी भावी प्रधानमंत्री उसे अपना न सकेगा।

मई में बड़े जोर-शोर से जो निश्चय लिया गया था, उसके महीने भर बाद ही

मंत्री महोदय ने लोकसभा में आश्वासन दिया कि 'शीघ्र ही इस समस्या का हल निकल आएगा।'—अर्थात् मई में हल निकला नहीं था।'''इस बात को लेकर मंत्री महोदय और विरोधी दलों में बराबर नोंक-झोंक चलती रही। कम्युनिस्ट सदस्य भूपेश गुप्त ने कहा कि "'समाचारपत्रों' से प्रतीत होता है कि प्रधानमंत्री के निवास की समस्या एक महान् राष्ट्रीय समस्या है। क्या सरकार इस तर्क को सुलझाने में समर्थ नहीं?" मंत्री जगन्नाथ राव ने ताना कसा, "क्या श्रीमान् सदस्य के पास कोई हल है?" भूपेश गुप्त ने तपाक से उत्तर दिया, "क्यों नहीं? मैं अपना घर इस काम के लिए देने को तैयार हूं।"

इधर शास्त्रीजी वाली कोठी में सुरक्षा मंत्रालय की ओर से युद्ध-कौशल शिक्षा का एक स्कूल स्थापित किया गया। उसे जल्दी ही घबराकर अपना बिस्तर गोल करना पड़ा, क्योंकि शास्त्रीजी के कमरे के दर्शनार्थ भक्तजनों का तांता लगा रहता था। किसी और मंत्री अथवा पदाधिकारी की भी हिम्मत वहां आकर रहने की न हुई। आखिर दिसम्बर, ६७ में १०, जनपथ का आधा भाग श्रीमती शास्त्री को रहने के लिए दे दिया गया। इस तरह उस मकान की दो साल से लटकी हुई समस्या सुलझी।

१९६८ में तीनमूर्ति मार्ग की चर्चा फिर से गरमाई। इस बार वह जबानी जमाखाते से हटकर दो लिखित खतों के रूप में उभरी, ये दोनों पत्र तत्कालीन संयुक्त-समाजवादी दल के दो दिग्गजों—मधुलिमये और जार्ज फर्नाण्डीज—द्वारा प्रेषित किए गए। मधुलिमये ने श्रीमती गांधी से पूछा कि "क्या जरूरी है कि भारतीय प्रधानमंत्री का निवास तीनमूर्ति जैसा वैभवशाली ही हो? जिस देश की प्रति व्यक्ति औसत आय विश्व-भर में सबसे कम हो, क्या वहां सरकारी स्तर पर दिखावा, शानो-शौकत और फिजूलखर्ची का दम नहीं घोट देना चाहिए?"

फर्नाण्डीज ने जोश-भरी धमकी दी कि 'जिस तीनमूर्ति में कभी अंग्रेज कमां-डर-इन-चीफ रहा करता था, उसमें जाने की हिम्मत अगर श्रीमती गांधी ने की तो मुझ जैसे व्यक्ति इसका 'शारीरिक' विरोध करेंगे। वह कोठी पहले ही लाखों रुपये खा चुकी है और लाखों ही रुपये इसे नेहरू-स्मारक बनाने में खप चुके हैं।"

नये साल, १९६९ के साथ एक नये सुझाव के रूप में सामने आई—प्रधानमंत्री के लिए कुल ३० लाख रुपये से, एक मध्यम-स्तर का भवन बनाने की बात। तीन-मूर्ति की बात बार-बार उठी और गिरी लेकिन आखिरकार नेहरू-स्मारक-कमेटी ने यह बिलकुल ही रद्द कर दिया कि इसे प्रधानमंत्री-भवन बनाया जाए। अब केन्द्रीय मंत्रिमण्डल को भी इस ओर से बिलकुल ही ध्यान हटा लेना पड़ा।

संतुलित-बजट के तीस-लाखा मकान की योजना, जिसे त्रिलिंगडन क्रिसेंट में बनाने का विचार किया जा रहा था—वास्तव में नेहरू के सामने ही अंकुरित हो चुकी थी। उन्होंने एक बार छोटे मकान में जाने की इच्छा प्रकट की थी और

कहा था कि तीनमूर्ति भवन उनके लिए बहुत बड़ा है। उस समय भी एक इस प्रकार की योजना तैयार की गई थी, किन्तु फिर ऊंची लागत के कारण त्याग देनी पड़ी थी।

१९६९ के आरंभ में पता चला कि प्रधानमंत्री के लिए स्थायी स्थान की व्यवस्था स्थायी योजना बनकर सामने प्रस्तुत है। यह भवन राष्ट्रपति एस्टेट में ही बनाया जाएगा और संभवतः मार्च, ७० तक तैयार हो जाएगा। संपूर्ण योजना तीन साल में कार्यान्वित हो पाएगी। सरकारी प्रवक्ताओं के अनुसार, यह एक सामान्य स्तर का भवन होगा जिसकी लागत वैसे तो तीस लाख से ऊपर बैठेगी लेकिन कुल खर्च-सूची इस प्रकार है : अतिथिगृह, मंत्रिमण्डल की बैठकों के कमरे, सुरक्षा और निजी कर्मचारियों के लिए स्थान, प्रधानमंत्री का सचिवालय—यह सब अठारह लाख में बनेगा और प्रधानमंत्री का व्यक्तिगत निवासस्थान कुल पांच लाख में तैयार हो जाएगा। प्रधानमंत्री सचिवालय के उच्च पदाधिकारियों के मकान की लागत का अंदाजा इसके अतिरिक्त होगा। इस निर्णय के लिए बीस हजार वर्ग-फुट जमीन पर अधिकार लिया जाएगा।

तत्काल संयुक्त समाजवादी दल ने विरोध का झंडा उठाया। मधु लिमये की लगातार रोक-टोक के बीच श्रीमती गांधी ने दोषारोपण का खण्डन किया और कहा कि संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी को छोड़कर सभी राजनीतिक दल इस बात पर एकमत हैं कि उन्हें एक बेहतर मकान में चले जाना चाहिए। एक ऐसे मकान में, जो स्थायी तौर पर प्रधानमंत्रियों का निवास बन सके।

विरोध के बावजूद यह समाचार दिल बढ़ाने वाला था और दिल तो, वास्तव में, इस बात से भी बढ़ा कि आए दिन प्रधानमंत्री के लिए नये मकानों की सूची का सिलसिला बंद होता दिखाई दिया। यह सिलसिला जिसमें कभी जयपुर हाउस, तो कभी हैदराबाद हाउस या फिर दरभंगा हाउस हमारी नजरों के सामने चलचित्र के विविध दृश्यों की तरह घुमाए जाते रहे। देश के प्रधानमंत्री का एक गौरव है; उसकी रक्षा होनी चाहिए, यह सही है; किन्तु देश के सामने आर्थिक कठिनाइयां हैं—उनसे भी तो इंकार नहीं किया जा सकता।

अफसोस, श्रीमती गांधी के ग्यारह वर्षीय प्रधानमंत्रित्वकाल में, संकटकालीन स्थिति के बावजूद, प्रधानमंत्री-आवास-संकट दूर न हो पाया।

सादगी का उदाहरण प्रस्तुत करने के दावे के बावजूद श्रीमती गांधी के प्रधान-मंत्रीत्व के बाद यह तथ्य प्रकाश में आया कि उनके निवासस्थान पर सिर्फ सुरक्षा संबंधी कुछेक उपकरणों पर निम्नलिखित लागत आई थी :

दो दरवाजे की चौखट में जड़े धातु-सूचक यंत्र	५६,००० रुपये
बिजली-अलार्म प्रणाली	३३१५८ रुपये
हाथ का धातु सूचक (संख्या केवल एक)	८७३ रुपये

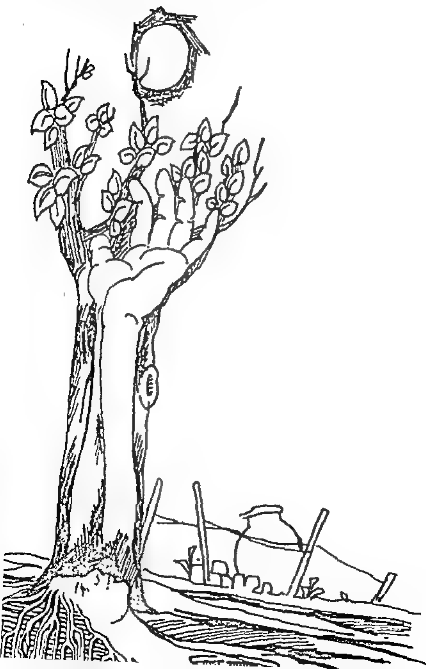
अभी प्रधानमंत्री-आवास चक्कर चल ही रहा था कि आकस्मिक रूप से एक नई फुलझड़ी छूटी—राष्ट्रपति रेड्डी मंत्रिमण्डल से परामर्श करने के बाद इस विशाल महलनुमा भवन से बाहर किसी और छोटे स्थान को आबाद करना चाहते हैं।

जैसा पहले भी बताया गया—वर्तमान राष्ट्रपति-भवन ३०० एकड़ में फैली लगभग तीन सौ कमरों वाली भव्य इमारत है। इसके चारों ओर दो सौ एकड़ अतिरिक्त जमीन में महकते-गमकते उद्यान व उपवन हैं। इस लाल-सफेद भवन में एक कोने में कमरों का एक सेट-विशेष है जिसका उपयोग राष्ट्रपति अपने निजी, पारिवारिक आवास के लिए करते हैं। सभा व भोजादि के लिए अलग कमरों के सेट सुरक्षित हैं।

देश के चौथे प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई मानो इस समस्या से बिलकुल ही उदासीन। प्रधानमंत्री बनने के बाद, कुछ अर्से अपने पुराने निवासस्थान ५, ड्यूप्ले रोड पर मस्त रहे। सुनने में आया कि उनका इरादा आवास-परिवर्तन का है ही नहीं। लेकिन एक शाश्वत समस्या यों पलक झपकते हल हो जाए तो भला, बात ही क्या बनी ? फिर वही चक्र चल पड़ा—तीनमूर्ति भवन, नये निवास की निर्माण-योजना, ५, ड्यूप्ले रोड में रद्दो-बदल इत्यादि। और अचानक सारे शोर-शराबे के मुंह पर ताला डालते हुए मोरारजी भाई ने ड्यूप्ले रोड पर ताला लटकाया और 'इन्दिरा वेन' वाले प्रधानमंत्री-आवास में जा बिराजे।

इन्दिरा गांधी दुबारा प्रधानमंत्री-पद पर आसीन हुईं तो इन्होंने पाया कि मोरारजी देसाई ने सुन्दर फ्रेंच-गवाक्षों में लोहे के जंगले लगवा दिए हैं और कार्यवाहक प्रधानमंत्री चरणसिंह के आवासकाल में घर में लगे दफ्तर के कमरे भी शयनकक्ष में परिणत हो चुके हैं। श्रीमती गांधी के निजी चित्र-संग्रह को संयोजित करने के लिए दीवारों को नया रंग-रूप और स्वच्छता देने की भी आवश्यकता महसूस की गई। बुद्धिमत्तापूर्वक निर्णय लिया गया कि नितांत आवश्यक परिष्कार व मरम्मत आदि के बाद प्रधानमंत्री, सपरिवार, १, सफदरजंग रोड पर रहें और १, अकबर रोड, पहले ही की तरह, उनके कार्यगत-आतिथ्य, कांफ्रेंसों व अन्य दफ्तरी काम-काज के लिए नियत कर दिया जाए। फिलहाल, समस्या का समाधान कर दिया गया। सच तो यह है कि समस्या प्रधानमंत्री-आवास की उतनी नहीं, जितनी जनता की संतुष्टि की, क्योंकि जितने मुंह, उतनी बातें।

खण्ड ६



आनुभविक

एक अजनबी बगल की सीट पर सो रहा है—
मेरे मुर्दा होने का अहसास धीरे-धीरे खो रहा है।

आकर्षक व्यक्तित्व : एक मोहपाश

आकर्षण—एक बहुत मोहक शब्द—पूरे संसार का आधार। लेकिन जितना प्यारा उतना ही भ्रामक। किसे कब क्या बांध जाएगा—किसके आकर्षण की डोर मन को कब फूलों की बेडियां पहना जाएगी—क्या कहा जा सकता है? इतना जरूर हम जानते हैं कि इस पृथ्वी पर जो हम टिके खड़े हैं— यहां से उड़ नहीं जाते—ब्रह्माण्ड में पागल आंधी की तरह भटककर टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाते—तो यह इस धरती के गुरुत्वाकर्षण के ही कारण। चांद पर यही आकर्षण कम है तभी वहां पर उठाया हुआ एक कदम हमें पृथ्वी पर उठाए हर कदम की अपेक्षा कहीं ज्यादा दूर फेंक देता है।

इस विचार से एक बात तो साफ हुई कि आकर्षण वह—जो ठहराव दे, जो दूर फेंक देने की जगह पास बुला ले। आकर्षण वह शक्ति है, जो भावनाओं की जड़ों को गहरा जमा देती है, जो हमें रस से सींचकर फूलों और फलों का वरदान दे जाती है।

क्या हम नहीं कह सकते कि व्यक्तित्व, वह प्रकाश का बिन्दु है, अग्नि का वह केन्द्र है, जहां से सूरज की सी रंग-बिरंगी किरणें फूटती हैं। एक ही व्यक्ति—एक ही प्राण—कभी सन्तान है कभी सहोदर, कभी सखा है, कभी प्रेमी। जिसका व्यक्तित्व जितना विकसित है, जिसके केन्द्र में जितनी तीव्र ज्योति है, वह उतने ही सुन्दर और प्रकाशपूर्ण रूप में जीवन की विभिन्न भूमिकाओं को अदा करने की सामर्थ्य रखता है।

एक बार की बात है, मुझे एक इंटरव्यू बोर्ड में आमंत्रित किया गया। जिन लड़कियों का चुनाव होना था, उनका सुन्दर होना तो जरूरी था ही, साथ ही उनका भाषा-उच्चारण भी महत्त्व रखता था। दो पदों के लिए चुनाव होना था और तमाम विचार-विमर्श के बाद जो चुनाव किए गए, उनमें कुछ अड़चनें पैदा आई।

एक लड़की पद के हिसाब से सारे मानदंडों पर सही उतरती थी लेकिन असमिया होने के कारण उसकी हिन्दी कुछ अपना ही अलग रंग लिए हुए थी। बोर्ड के एक शुद्धतावादी हिन्दी-प्रेमी को यह बात नागवार गुजर रही थी, लेकिन मुझे उसके उच्चारण का यही अनूठापन बार-बार आकर्षित कर रहा था। हिन्दी के खड़ेपन में उसने बंगला और असमिया भाषा की गोलाई और चिकनाई मिलाकर उसे मीठा बना दिया था। एक ही गुण मुझे आकर्षित और मेरे सहयोगी को विकर्षित कर रहा था।

कुछ ऐसी ही घटना तब घटी जब अपने एक परिचित बन्धु के अनुरोध पर मैं उनके भाई के लिए एक दुलहन तलाशने किसीके घर जा पहुंची। लड़की दिखाने की परम्परावादी रस्म से मैं मन-ही-मन संकुचित हुई बैठी थी कि अचानक जाग उठी। हमारे बन्धु के एक प्रश्न का उत्तर कन्या बड़े-सधे शब्दों में दे रही थी, "मैं अपने माता-पिता की सम्मति का बहुत आदर करती हूं किन्तु इस विषय में अंतिम निर्णय लेने का अधिकार मेरा ही है।" बन्धु को यह स्पष्टोक्ति अच्छी न लगी। बाहर आकर भाई को समझाने लगे कि ऐसी मुंहफट लड़की को हम अपनी बहू नहीं बनाएंगे। किन्तु वहां तो रंग कुछ और ही था। छोटे भाई साहब लड़की की इसी स्पष्टवादिता पर मुग्ध हो गए थे। बोले, "भैया, शादी करूंगा तो इसीसे। यह मेरी सच्ची साथिन बनेगी—गले का फंदा बनकर नहीं रह जाएगी।"

रुचियों व विचारों की इस रस्साकशी में आकर्षण व्यक्तित्व किसे कहा जा सकता है—यह बताना क्या आसान है? शायद यह कह पाना अधिक सरल है कि कौन-सी बातें अनाकर्षक होती हैं। संभवत: किसी व्यक्तित्व में एतराज की सबसे बड़ी बात यह हो सकती है कि वह अपनी ही चलाए—उसमें 'अण्डरस्टैंडिंग' न हो। ऐसा व्यक्ति दूसरे की बात समझने की क्षमता नहीं रखता। अपनी दृष्टि के आगे उसे दूसरे का दृष्टिकोण दिखाई ही नहीं देता। ऐसे इंसान से आदान-प्रदान की कोशिश दीवार से सिर मारने जैसी ही सिद्ध होगी। इस दीवार में कोई खिड़की, झरोखा, ऐसा नहीं खुल पाएगा कि दूसरे के विचारों की ताजी हवा अन्दर आ सके। महज दीवारों से घिरकर दम घुटने लगता है। फिर भला वहां आकर्षण की गुंजाइश ही कहां रह जाती है? आकर्षित करने के लिए सहृदयता प्रथम आवश्यकता है।

दूसरा गुण जो व्यक्तित्व को आकर्षक बनाने की जरूरी शर्त है—वह है संयम। जिसने जब्त करना नहीं जाना उसने जीवन के विषय को भीतर की शक्ति से अमृत बनाना भी नहीं जाना। बात कहने में आसान लेकिन करने में बहुत मुश्किल है। लेकिन मन की एक कड़वाहट जबान पर आकर सौ गुनी हो जाया करती है और यह तो है ही पुरानी कहावत कि 'मुख से निकली बात परायी'।

परेशानियां किसे जिन्दगी में नहीं हैं? कौन है जो फूलों की सेज सो रहा है?

ऐसे में अपने पैरों के कांटे निकाल-निकालकर दूसरे के चुभाना कहां की बुद्धिमानी है? जिसने गम पीना सीख लिया, उसने जिन्दगी की लड़ाई का आधा मैदान फतह कर लिया।

संयम आकर्षक गुण है लेकिन ऐसे व्यक्ति जो न दुलारने से पिघलें और न पत्थर मारने से भड़कें—किसीको भी रास नहीं आते। हुआ करें वे लाख गुणों के भंडार। किसीके हाथ में जब उस भंडार पर लगे संयम के ताले की कुंजी ही नहीं तो वह अमूल्य रत्न उसके किस काम के? मन को शांति देने वाला पत्थर भी भगवान हो गया अन्यथा भूखे के हाथ आया हीरा भी कांच का टुकड़ा है। यहां आकर पहले और दूसरे गुण का मेल हो जाता है। दूसरे के दृष्टिकोण को समझकर, संतुलित और मधुर बात कहने वाला व्यक्ति हर स्थिति, हर स्थान पर सुखकारी होता है।

यों तो हर युग के साथ अन्य मूल्यों की तरह आकर्षण के मूल्य भी बदलते रहे हैं। कभी लज्जा से छुईमुई हो जाने वाली नारी आकर्षण का जादू जगाती थी तो आज कंधे-से-कंधा मिलाकर चलने वाली अपने नागपाश में बांधती है लेकिन एक बात युगों से नहीं बदली। रहस्यमय व्यक्तित्व में एक ऐसा सम्मोहन होता है कि अपनी ओर खींचकर रहता है। मानव-स्वभाव ही ऐसा है कि रहस्यों को खोलना उसे बहुत रुचिकर है। समुद्र अथाह है तो वह उसकी गहराई नापे बिना न रहेगा। हिमालय की चोटियों पर कभी मानव के पैर नहीं पड़े तो वह उसके बर्फीले तिलिस्म को तोड़कर उसकी छाती पर झंडे गाड़ेगा। इसीलिए जहां उसे पहेली-सा कोई व्यक्तित्व दिखा, वह उसके पर्दे उठाने को मचलने लगा। पहेली सुलझ जाने पर उस आकर्षण का क्या होता है, वह अलग बात है किन्तु इस वास्तविकता से इंकार नहीं किया जा सकता कि जो अज्ञेय है, जो अबूझा, अनजाना, अछूता-सा लगता है, वह अपनी ओर अदृश्य डोरियों से खींचता रहता है।

प्रश्न उठता है कि रूप के आकर्षण का व्यक्तित्व में कितना बड़ा हाथ है। इसमें शक नहीं कि सुन्दरता बिना शब्दों के बोलती है और मन को, आंखों को मुग्ध कर लेती है। किन्तु व्यक्तित्व, रूप-सौंदर्य से परे की चीज नहीं? अकसर देखने में आया है कि जो लोग दिखने में बहुत साधारण होते हैं या शायद कुरूप भी कहे जा सकते हैं, जैसे-जैसे बड़े होते हैं, शक्ल-सूरत में बेहतर लगने लगते हैं। कारण है व्यक्तित्व का विकास। वैसे भी जब हम किसीसे मिलते हैं तो उसके रूप-रंग का असर पांच-सात मिनट तक ही रहता है। असलियत वह है जो कि उसके बाद उभरकर आती है। थोड़ी देर बाद नाक-नक्श तो दिखने ही बन्द हो जाते हैं, क्योंकि आंखों को उनकी आदत पड़ जाती है। बाहरी आंखें बन्द होने के साथ-साथ भीतर की दृष्टि खुलने लगती है और उसकी पुतली से छन-छनकर दूसरे के व्यक्तित्व का उजाला हमारे भीतर उतरने लगता है। उजाला जितना अधिक

होता है, मित्रता की राह भी उतनी ही दूर तक लम्बी दिखाई पड़ने लगती है। यानी परस्पर आकर्षक स्थायी दोस्ती की गलबाहीं बन जाता है।

वास्तविकता यही है कि आकर्षक व्यक्तित्व गूंगे की जीभ पर गुड़ का स्वाद है जिसे सिर्फ चखा तो जा सकता है—बयान नहीं किया जा सकता। वर्ना क्या वजह है कि इंसान बड़े-बड़े महान विचारकों, महापुरुषों से लेकर कातिल, खूनी और डाकुओं तक के भयंकर आकर्षण से नहीं बच पाता और उनको अपना आदर्श मान एक तपस्वी हो जाता है तो दूसरा आवारा। कुछ ऐसी भी कहानियां अखबारों में पढ़ने को गाहे-बगाहे मिल जाती हैं कि अमुक ने अपने जाल में फंसाकर बीसियों बुद्धिमानों को चकमा दे डाला। दस शहरों में दस विवाह रचाकर मोटा दहेज इकट्ठा कर लिया या भोली सूरत और दिलफरेब अदाओं से दिल ही नहीं, जेब पर भी चाकू चला दिया। इस तरह के सर्पीले, जहरीले आकर्षणों के बारे में तो यही कहा जा सकता है कि हर सिक्के के दो पहलू होते हैं—चित और पट। खरा-खोटा पहचानने की नजर तो इंसान की अपनी ही होती है, उसे उधार नहीं लिया जा सकता।

बातचीत : एक दुधारी तलवार

जाने ऐसा क्यों होता है कि हम जब भी किसी ऐसे व्यक्ति से बात करते हैं जिसपर विशेष अच्छा प्रभाव डालना चाहते हैं—हमारी वाक्पटुता धोखा दे जाती है। पहले से कितने ही कुलावे मिलाते हैं कि यों जवाब देंगे, इस तरह एक शब्द के चतुर प्रयोग से चमत्कृत कर देंगे, फलां किस्सा सुनाकर गुदगुदा देंगे, लेकिन असल मौके पर जबान पर ताले पड़ जाते हैं। सारे मजाक भूल जाते हैं और बातों का इस कदर सपाट जवाब मुंह से निकलता है कि खुद पर गुस्सा आने लगता है। बाद में सारे सही जवाब और चुटकुले दिमाग में गुमशुदा बच्चों की तरह पलट-पलटकर लौटने लगते हैं। लेकिन तब तक गोली बंदूक से निकल चुकी होती है। उसे लौटा लाने का कोई उपाय नहीं रह जाता। जिसको प्रभावित करना था, उसपर हमारे नीरस, मटमैले और अतिसाधारण व्यक्तित्व की पोल खुल चुकी होती है।

अभी पिछले दिनों हमारे यहां एक सज्जन आए। द्रविड़—नाक-नक्श, पक्का सांवला रंग और स्थूलकाय—उनके साथ उनकी सुन्दर चपल पत्नी। हम सभी उनकी पत्नी की ओर मुग्ध-भाव से देख रहे थे और अपने अनचाहे ही, पति-पत्नी की असमानता पर आश्चर्य भी करते जा रहे थे। थोड़ी ही देर में पासा पलट गया। सज्जन विदेश से अभी लौटे थे और बातों-बातों में वहां के आधुनिक संगीतज्ञों, उनके रहन-सहन और भारतीय संगीतज्ञों की साधना-पद्धति से वहां की संगीत-शिक्षा की सामान्य तुलना करने लगे। पांच मिनट में ही उन्होंने हमें मंत्र-मुग्ध कर लिया। उनकी आवाज की सौम्यता और सतुलन, शब्दों का सतर्क चुनाव, वाक्यों का रोचक गठन और सबसे बड़ी, उनकी बातचीत की सहज-प्रसन्न भंगिमा ऐसी थी कि उनकी पत्नी का सौन्दर्य-चमत्कार हम बिलकुल ही भूल बैठे। तीन घंटे के बाद जब वे गए तो घर सूना-सूना लगने लगा। तब जान पड़ा कि इस

व्यक्ति ने संगीत को सही अर्थों में सुना है। संगीत उसकी वाणी और जिह्वा पर आकर बैठ गया है।

इसके विपरीत यह भी होता है कि कुछ लोग अपने पहनावे-ओढ़ावे, संवई रंग और मधुर मुस्कान से आपको बाँधे रहते हैं, लेकिन जैसे ही मुख खोलते हैं, जी खट्टा हो जाता है। सच तो यह है कि आँखें अगर दिल का आईना है तो बातचीत पूरे व्यक्तित्व का झरोखा है:

"दिल के आईने में है तस्वीरे यार,
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।"

इसी तरह अगर कहें कि जबान इंसान की कुंजी है — जहाँ वह घूमी कि उसके सारे रहस्यों के ताले खुल गए, तो इसमें अत्युक्ति न होगी। वाणी का महत्त्व तो इसीसे पता चल जाता है कि एक ओंकार नाद में पूरा ब्रह्म समाया हुआ है। ऐसा हमारे पुरखों के पुरखे कहते और मानते आए हैं। जब नाम, रूप, रस और गुण से परे, मात्र नेति-नेति से जाना जाने वाला ईश्वर एक ध्वनि में सिमटकर बंध सकता है तो हमारी-आपकी बिसात ही क्या? हम तो आखिरकार केवल मानव हैं। और वह भी ऐसे, जिन्हें अपनी ही आवाज से प्यार है। खुद को बोलते सुनना कितना अच्छा लगता है। अपनी आवाज से बढ़कर दूसरा कोई जादू नहीं। कुछ कहने को हो न हो, बोलना आप-से-आप''दूसरे की बात काटकर अपनी स्वर-शक्ति बढ़ाने का लोभ कम कौन संवरण कर पाया है? और कुछ बस न चला, तो गुनगुनाना बंद करके पंचम स्वर से अपने ही कान गुंजा डाले।

वाणी ही वह शक्ति है जिसका सही इस्तेमाल, स्नेह के धागे, क्षितिज तक खींचकर बढ़ा देता है। लेकिन उसका गलत प्रयोग बूमरैंग की तरह हमें ही चोट दे जाता है। न्यायाधीश का एक हस्ताक्षर किसीको फाँसी पर चढ़ा सकता है, उसी तरह गलत मौके पर निकली हुई एक गलत बात बहुत प्यारा साथी बिछुड़ा सकती है, पति-पत्नी को तलाक के मुकदमों में उलझा सकती है और स्वर्ग-से घर को महाभारत का मैदान बना सकती है। सतसैया के दोहरों की तरह वाक्य देखने में छोटा है, लेकिन इसका भाव गंभीर है। इसके चक्कर में पड़कर बड़े-से बड़ा बुद्धिवादी नेपोलियन हारते देखा गया है।

बचपन में मुझे अपनी नानी से एक उपाधि मिली थी- 'बातों की रसिया।' मुझे याद है कि बड़ों की बातें सुनने के लिए मैं सामने स्कूल की किताबें खोलकर एकाग्रचित हो पढ़ने का नाटक किया करती थी। साथ में यह भी कोशिश रहती थी कि किसी तरह सिकुड़-सिमटकर अदृश्य हो जाऊँ कि बड़ों की नजर ही मुझपर न पड़े। क्योंकि जहाँ वे सचेत हुए, मुझे उस कमरे से भगा दिया जाएगा। फिर वे रसीली बातें, जो मेरे नाना भी अपने कान खोलकर सुन रहे हैं, छिन जाएँगी। सच ही मैं बातों की रसिया थी। लेकिन क्या दोष मेरा था? लोग क्या

उस अमरसी बातचीत का नहीं था, जिसमें नानी के रहस्य-भरे संकेत और मौसियों की लच्छेदार शब्दावली रंग और सुगन्ध भर जाया करती थी? आज सोचती हूँ कि मास्टरजी का काम न कर पाने पर, डांट मुझे नहीं, उन्हें पड़नी चाहिए थी, कम-से-कम आधी-आधी बंटनी तो चाहिए ही थी।

वास्तव में आज आकर्षक व्यक्तित्व की परिभाषा ही बदल गई है। एक समय था, जब बड़ी-बड़ी आंखें, सुग्गा-सी नाक और मूंगारंगी होंठ किसी भी लड़की को आकर्षक बनाने के लिए पर्याप्त थे और इसी तरह लंबा-चौड़ा गठीला शरीर और बढ़िया नौकरी लड़कों के लिए सबसे बड़े सर्टिफिकेट थे। व्यक्तिगत स्वतंत्रता और तर्क के युग ने इन तराजुओं को बिलकुल बेमानी करके रख दिया। आज हर लड़की सुन्दर हो सकती है—उसका व्यक्तित्व आकर्षक कहलाएगा, यदि वह अपने शारीरिक गुणों को उभारना जानती है। उन गुणों से हमारा परिचय उसकी बातचीत द्वारा होता है। यदि वह संयत रहते हुए भी उन्मुक्त है, तर्कशील—किन्तु विनम्र बात कहना जानती है, अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिए उसके पास सादी, पर समर्थ भाषा है, दृढ़ता और माधुर्य दोनों का स्वर में संतुलन है तो उसकी आंखें छोटी हों, नाक बड़ी, रंग काला हो और दांत ऊबड़-खाबड़ हों—कोई फर्क नहीं पड़ता। सब उसका सामीप्य चाहेंगे। उसे मित्रों की कभी कमी न रहेगी, और यदि कोई उसके बारे में भूल से कह बैठा कि सुन्दर नहीं है, तो दस आवाजें बेसाख्ता कह उठेंगी—न हो सुन्दर, लेकिन कितनी मोहक है! कितना आकर्षक व्यक्तित्व है उसका! आज केवल शारीरिक सुन्दरता अर्थहीन हो गई है। यदि उसमें आकर्षण नहीं है तो वह व्यर्थ है। उसका कोई लेनदार नहीं।

व्यक्तित्व का आकर्षण उत्पन्न करना कोई हंसी-खेल नहीं। बातचीत मधुर और आकर्षक तभी बन सकती है जब उसमें सार हो, उसके पीछे बुद्धि की प्रखरता और भावनाओं की गहराई हो। मात्र शब्दों का आडंबर रचकर रिझाने का जमाना भी निकल गया। एक समय वह था जब लच्छेदार बातें कहकर किसीको भी आकर्षित किया जा सकता था। ऐसे लोगों की पोल अब जल्द ही खुल जाया करती है। हरेक का कुछ ऐसी हस्तियों से पाला पड़ा होगा जो बातें बनाने में माहिर होती हैं। आपको सहायता चाहिए तो ऐसे लोग जबानी-सहायता करने में सारों शब्दों का झरना बहा देंगे, लेकिन उनकी रत्ती-भर न हिलेगी। 'बातों की खाने वाले' भी इसी श्रेणी में आते हैं, लेकिन ऐसे लोग आकर्षक व्यक्तित्व वाले नहीं कहलाएंगे। जब आप इनकी असलियत जान लेंगे तो उनसे वितृष्णा हो जाएगी। उनके खोल के नीचे का पोल मन को ग्लानि से भर देगा। अच्छा वही लगता है, जो मीठी बात भी करता है, लेकिन धोखे के जाल में फंसाकर छोड़ नहीं जाता।

आकर्षक व्यक्तित्व तो हम उसे ही मानेंगे, जो हर बार मिलने पर कुछ और प्रिय लगने लगे। जो पहली बार चमत्कृत करे और दूसरी बार हल्की-सी निराशा

मन में जगाए, वह गुलदस्ते में सजा एक फूल है जो बहुत जल्दी बासी हो जाएगा, डाल पर महकता गुलाब नहीं, जिसकी पंखुड़ियां मुरझाकर भी सुगंधविहीन नहीं होतीं। हम यह भी नहीं मानते कि सच हमेशा कड़वा ही होता है। सद्भावना से बोला गया अप्रिय सत्य भी जीवनदायी हो सकता है और चाटुकारी या गर्जी से कहा गया मीठा झूठ जीवन और संबंधों में कड़वाहट घोल देता है। हर कोई खूब अच्छी तरह जानता है कि उसके परिवार की खुशहाली, उसके वाक्चातुर्य 'टैक्ट' पर निर्भर करती है। हजारों ऐसी छोटी-छोटी स्थितियां, बातें और घटनाएं जो मन को नहीं भातीं, हंसकर आदर और सत्कार के साथ बल्कि स्वागत के शब्दों से झेली जाती हैं। ये छोटे-छोटे झूठ, ये शब्दों के छोटे-छोटे पुल, संबंधों को जोड़ते हैं, परिवार की नींव को मजबूत करते हैं। कौन नहीं जानता कि सब कह देना नहीं चाहिए और यह भी कि जहां जब जो कहना है, उसे स्वर देना जरूरी है। बातचीत का एक महत्वपूर्ण महल है—मौन। चुप कब रह जाना है, जिसने यह नहीं जाना, उसने बातचीत का गुर नहीं जाना।

मन में जगाए, वह गुलदस्ते में सजा एक फूल है जो बहुत जल्दी बासी हो जाएगा, डाल पर महकता गुलाब नहीं, जिसकी पंखुड़ियां मुरझाकर भी सुगंधविहीन नहीं होतीं। हम यह भी नहीं मानते कि सच हमेशा कड़वा ही होता है। सद्भावना से बोला गया अप्रिय सत्य भी जीवनदायी हो सकता है और चाटुकारी या गर्जी से कहा गया मीठा झूठ जीवन और संबंधों में कड़वाहट घोल देता है। हर कोई खूब अच्छी तरह जानता है कि उसके परिवार की खुशहाली, उसके वाक्चातुर्य 'टैक्ट' पर निर्भर करती है। हजारों ऐसी छोटी-छोटी स्थितियां, बातें और घटनाएं जो मन को नहीं भातीं, हंसकर आदर और सत्कार के साथ बल्कि स्वागत के शब्दों से झेली जाती हैं। ये छोटे-छोटे झूठ, ये शब्दों के छोटे-छोटे पुल, संबंधों को जोड़ते हैं, परिवार की नींव को मजबूत करते हैं। कौन नहीं जानता कि सब कह देना नहीं चाहिए और यह भी कि जहां जब जो कहना है, उसे स्वर देना जरूरी है। बातचीत का एक महत्त्वपूर्ण महल है—मौन। चुप कब रह जाना है, जिसने यह नहीं जाना, उसने बातचीत का गुर नहीं जाना।

ही रहा है लेकिन यह जीता-जागता, पांचों इंद्रियों, मन और मस्तिष्क के सप्तकोण से समझा-बूझा जाने वाला संसार भी मिथ्या है। यानी सच को झूठ सिद्ध किया जा रहा है। सत्य की खोज में जैन-दर्शन के तो पास भी न फटकिएगा। वह आपको अनेकांत सिखा देगा—स्याद्वाद की शिक्षा देगा। तब आप कहेंगे—इस अपेक्षा से यह मनुष्य है, इस अपेक्षा से यह मेज है, इस अपेक्षा से आप पाठक हैं। स्याद्वादी तर्क होगा कि जिस समय आप पशु का-सा काम करेंगे, उस समय आप मनुष्य नहीं, पशु हो जाएंगे। इसलिए कहो—किसी कारण विशेष से यह मनुष्य है और किसी कारण विशेष से पशु। मेज को लिखने के काम की जगह लेटने के काम में ले लिया तो वह दीवान हो गई; अतः यह इस अपेक्षा से मेज है, उससे दीवान। भला बताइए—इस तर्क से आप पहुंच सकेंगे, 'सच क्या है' के उत्तर तक ?

तो चलिए, 'सच क्या है' को मारिए गोली। सच इतना ही है कि हमारे गुरु-जी की शिक्षा हमें फिर दगा दे गई। नाक सीधी न पकड़ी जाए तो हाथ सिर के पीछे से घुमाकर उसे पकड़िए। समस्या को दूसरे सिरे से सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। विचार करें कि हम झूठ क्यों बोलते हैं ? पढ़ने का मन न हो तो बच्चे के पेट में दर्द हो जाता है। शैतानी करते हुए घुटने फोड़ लिए तो कह दिया, फलां ने धक्का दे दिया था। दोस्तों के साथ गप-शप करते देर हो गई तो—ऑफिस में काम ज्यादा था। तोड़ू-फोड़ू बेटे को पिता की आखिरी चेतावनी मिल चुकी है। इस बार जो उसके हाथ से प्याला गिरा तो मां ने कह दिया—मुझसे फूट गया। ऐसे छोटे-मोटे झूठ के असंख्य उदाहरण दिए जा सकते हैं।

अब जरा देखें कि इन स्थितियों में सच बोलते तो क्या होता ? पेट में दर्द का बहाना न होता तो दो घंटे गणित से झख मारनी पड़ती। दूसरे का नाम न लिया होता तो घुटने तो फूटे थे, मां से दो चपत खानी पड़तीं। ऑफिस का काम न कहा होता तो पति को पत्नी के फूले मुख को हजार मिन्नतों का सेंक देना होता। टूटे प्याले का दोष अपने सिर न लिया होता तो न सिर्फ बच्चे की धुनाई होती—बच्चे को कैसे ट्रेनिंग दी है—कैसे निरंकुश छोड़ रखा है, इसपर कम-से-कम पंद्रह मिनट पिता की अनथक वार्ता सुननी पड़ती।

यानी चारों स्थितियों में झूठ बोलकर स्थिति को अप्रिय होने से बचा लिया गया। स्थिति तो कड़वा-करेला थी ही, सच बोलना उसपर और नीम चढ़ा देता। निष्कर्ष यह निकला कि दैनिक जीवन की नैया जब सत्य के भंवर में फंस जाए तो उसे झूठ की पतवार से पार लगाना चाहिए।

एक हुए थे सत्यवादी हरिश्चन्द्र। प्रण पूरा करने के लिए उन्हें राजा से चांडाल बनना पड़ा। पत्नी-बच्चे सहित बिक जाना पड़ा। दूसरे सत्यवादी थे धर्म-राज युधिष्ठिर। जीवन-भर सत्य-पथ पर चलने के बावजूद द्रोणाचार्य द्वारा पांडवों की सेना का भयंकर संहार होते देख उन्हें अर्द्ध सत्य या अर्द्ध असत्य बोलने

पर मजबूर होना पड़ा। 'अश्वत्थामा मारा गया—नर नहीं, हाथी' के पीछे छिपे असत्य भाषण की प्रेरणा और प्रभाव से युधिष्ठिर अपरिचित नहीं थे। तब भी उन्होंने जीवन की सारी कमाई लुटा दी। तर्क किया जा सकता है कि उन्होंने सत्य वचन का त्याग इसलिए किया ताकि कौरवों के असत्य आचरण पर पांडवों के शाश्वत सत्य की विजय हो सके। लेकिन अंत में सारे तर्क-वितर्क का निचोड़ यह निकलता है कि बड़े सत्य की रक्षा करने के लिए छोटे सत्य को कुर्बान किया जा सकता है। मानो सत्य भी छोटा-बड़ा होता है, सत्य भी झूठा-सच्चा होता है। अगर मेरी बात में कुछ ज्यादा ही उलझाव नजर आए तो माफ कीजिएगा, बात यह है कि बात ही जरा पेचीदा है।

मैं फिर कोशिश करूं : मान लीजिए कि आपके सामने एक खूंखार हत्यारा पिस्तौल लिए प्रकट हो जाता है और आपसे पूछता है कि अभी जो आदमी इधर भागता हुआ आया था, वह दायें गया या बायें ? आपने एक घबराए हुए आदमी को दायें भागते देखा था। लेकिन क्या आप हत्यारे को सच्ची बात बता देंगे ? क्या ऐसे में सच बोलना निरी अमानवीयता नहीं होगी ? दूसरी ओर यदि पुलिस का आदमी किसी भागते हुए हत्यारे की दिशा आपसे पूछे तो संभवतः आपको सच बोलने में कोई हिचकिचाहट न होगी।

अपने मुटापे के अहसास से पीड़ित और दुःखी व्यक्ति आपको बताता है कि उसने जोर-शोर से वर्जिश शुरू कर रखी है, चीनी छोड़ दी है : खाना कम कर दिया है लेकिन न जाने क्या बात है, वजन घट ही नहीं रहा। ऐसी स्थिति में शायद ही कोई संगदिल होगा जो फौरन दुखते घाव पर मीठे झूठ का मरहम न लगा दे ? "क्या कह रहे हैं, आपने अपना वजन लिया ? मेरे खयाल से तो आपने बहुत वेट लूज किया है।" अगर आप यह भी सोचते हैं कि आप उनके सच्चे दोस्त हैं और असलियत बताना सच्चे दोस्त का धर्म होता है तो भी आप बेबाक सचाई से यह नहीं कह पाएंगे कि "आप ठीक कहते हैं—आप पहले से भी ज्यादा मोटे हो गए हैं।"

इसी तरह असुन्दर को असुन्दर, काले को काला, अव्यवहारी को मूर्ख कहना क्या सच ही, सच कहना है ? अक्सर ऐसी परिस्थितियों में मनुष्य दो तरीकों से उबरता है। एक तो कुछ बोलते हुए भी कुछ न बोलकर और दूसरे बात टालकर या बदलकर। पिछले दिनों कॉलेज में कुछ ऐसी ही स्थिति का सामना करना पड़ा। कुछ विद्यार्थियों ने ट्यूटोरियल लिखकर दिए थे जो मुझसे कहीं खो गए। बहुत ढूंढने पर भी वे मिल नहीं रहे थे और मेरी यह हिम्मत नहीं थी कि उन्हें सच बता दूं। उन्होंने काम करने में बहुत मेहनत की थी और उन्हें परिणाम जानने की उत्सुकता थी। हर हफ्ते ट्यूटोरियल वाले दिन मेरा दिल धक-धक करने लगता कि इस बार क्या कहूं। पहले हफ्ते अधिक काम का बहाना बनाया, दूसरे हफ्ते

नया काम करने को दे दिया—इस वादे के साथ कि दोनों काम साथ-साथ लौटा दिए जाएंगे। तीसरे हफ्ते पूरा समय नये काम की आलोचना में निकाल दिया और चौथे हफ्ते उनका सामना करने की हिम्मत न होने के कारण छुट्टी ले डाली। पहली बार सच न बोल पाने के कारण अब सच बोलना और भी कठिन हो गया था। किस मुंह से कहूं कि आपकी मेहनत मेरी लापरवाही का शिकार हो गई है? महीना बीत चुका था और मेरी भूख-प्यास खो चुकी थी। एक दिन एक दूसरी प्राध्यापिका पास बैठी थीं; बोलीं, "क्या बात है—कुछ परेशान हो?' मुझसे रुका न गया—सारी चिन्ता उनके सामने उंडेल दी। वह सुनती रहीं—मंद मुस्कराती रहीं और मेरी बुद्धि उनकी मुस्कान पर स्वयं को कोसती रही कि 'और सच बोल—अब तेरी लापरवाही सारे विभाग का चर्चा बनेगी।' पूरी बात सुन चुकने के बाद वे बोलीं, "मैं तुम्हारे लिए अलादीन का चिराग बन सकती हूं। तुम्हारे ट्यूटोरियल मेरे पास आ गए हैं। मैं खुद महीना-भर से इस उधेड़बुन में थी कि ये काम मैंने क्यों करा लिया, ये कोर्स तो मैं पढ़ाती ही नहीं।"

यह तो थी एक सच न बोलकर सौ झूठ मोल लेने की बात। लेकिन एक सच बोलकर सौ मुसीबतें मोल लेने के असंख्य उदाहरण भी हमें प्रतिदिन मिलते रहते हैं—इससे कोई अक्लमंद इनकार नहीं कर सकता। मुझे याद आता है—एक नाटक, जिसमें एक व्यक्ति को भगवान स्वप्न में आदेश देते हैं कि अब से तुम्हें सिर्फ सच बोलना होगा। एक भी झूठ बोलोगे तो तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी। उस व्यक्ति के परिवार में जैसे भूचाल आ जाता है। मृत्यु-भय से वह अपनी पत्नी को बता देता है कि वह उससे तंग आ चुका है, उसका पकाया खाना उसके गले के नीचे नहीं उतरता, वह बूढ़ी और बदसूरत लगने लगी है। नतीजा यह कि पत्नी पीहर चली जाती है। वह अपने पिता से उसी प्राण-भय से कहता है कि 'उनका घर की हर बात में टांग अड़ाना उसे कतई नापसंद है। 'उनके रात-भर खांसने से वह सो नहीं पाता, उनके अविवेकीय लाड़-प्यार से बच्चे बिगड़ते जा रहे हैं।' बूढ़ा बीमार पिता इस सच को झेल नहीं पाता और उसे दिल का दौड़ा पड़ जाता है। दफ्तर में अफसर जब उसे देर से आने पर भला-बुरा कहता है और उसके गुम-सुम खड़े रहने पर सवाल-जवाब करता है तो मजबूरन उसे सच बोलना पड़ता है। फिर तो जैसे भानमती का पिटारा खुल जाता है। एक के बाद एक सचाई खुलती चली जाती है—'अफसर तो रोज ही देर से आता है, सारा समय अपने दोस्तों से चाय-पानी करता रहता है, बीवी से फोन पर बहाने बनाता है और अपने सेक्रेटरी से इश्क फर्माता है…' इस सत्य-भाषण पर उसे नौकरी से बर्खास्त कर दिया जाता है। हमारा सत्यवादी हीरो ईश्वर के आदेश से इतना दुःखी है, इतना पीड़ित है कि वह ऐसे जीवन से मौत पसंद करता है और तय करता है कि अब वह एक झूठ बोलकर स्वप्न के आदेशानुसार मर जाएगा। दफ्तर में अपने सबसे पक्के दुश्मन को

ये कहावतें

कहावतों का जिक्र करना भिड़ के छत्ते में हाथ डालना है। चारों तरफ से आकर ये घेर लेंगी और फिर छुड़ाए न छूटेंगे—झड़वेरी के कांटों-सी। अकसर देखा गया है कि बात करते-करते किसीके मुंह से मुहावरा निकल गया, मानो छूत का रोग फैल गया। खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है। किसीने मुहावरा बोला, दूसरे ने पकड़ा और तीसरे-चौथे-पांचवें से होकर गुजरते मुहावरे एक से हजार हो गए। मुहावरों की झड़ी लग गई।

कितनी ही बार, मुझे याद है, हम भाई-बहन रात को खाने की मेज पर जमे हुए गर्मागर्म बहस में जुट जाते थे। देश की राजनीति हो या आज की शिक्षा-प्रणाली, योग्य जीवनसाथी के गुणों-अवगुणों की मीमांसा या अपने-अपने भविष्य का ज्वलंत प्रश्न—एक हां कहता था तो दूसरा ना कहने को अपना धर्म मानता था। एक पूरब जाता था तो दूसरा पश्चिम। कोई अपनी टेक से हिलने को तैयार न होता और रोज-ब-रोज जवानी पानीपत का मैदान खाने की मेज पर उतर आता। जब स्थिति ज्यादा विकट हो जाती और कोई भी योद्धा अपनी तलवार म्यान में डालने को तैयार नहीं दिखाई देता तो मेरी नानी आकर एक सहज मुहावरा हमारे बीच छोड़ जाती थीं और हमारा उबाल उस ठण्डे पानी के छींटे से उतरने लगता था। राजनीति की चर्चा होती तो कहतीं—'शहर के अंदेशे से काजीजी क्यों दुबले हो रहे हैं?' आज की शिक्षा-पद्धति की कमियां छानी जा रही होतीं तो उनका व्यंग्य होता था—'नाच न जाने आंगन टेढ़ा।' जीवनसाथी कैसा होना चाहिए पर—'सूत न कपास, जुलाहे से लट्ठम।' सुनकर झेंपना पड़ता। भविष्य के प्रश्न पर—'जैसा बोओगे वैसा काटोगे' की टिप्पणी होती। हम सब मिलकर नानी की बात का प्रतिवाद करते, तो 'चोर-चोर मौसेरे भाई' कहलाते और किसी दिन उनके इस छींटे से भी उबाल न उतरता तो कह देतीं—' 'सुहाते की लात, ना सुहाते की बात।' तुम्हें

तो लड़ाई में ही मजा आता है। वैसे भी तुम्हें समझाने से कोई फायदा नहीं। 'भैंस के आगे बीन बजाकर क्या करना।' और ज्यादा देर तुम्हारे साथ बक-झक की तो 'कोयले की दलाली में मुंह काला' अलग होगा। तुम्हारे नानाजी भी कहेंगे कि मैं ही तुम्हें 'शह दे रही' थी। लेकिन यह याद रखना कि 'स्याह को सफेद' तुम नहीं कर सकते। 'झूठ के पांव नहीं होते' और 'सच-झूठ में चार अंगुल का फरक' रहता ही रहता है।'

मतलब यह कि नानी की हर बात की तान मुहावरे पर आकर टूटती थी और हम उनकी उलझी लच्छियों को सुलझाते-सुलझाते कोई और नई बहस छेड़ बैठते और अक्ल के घोड़े फिर दौड़ाने लगते थे।

मुहावरों में सबसे प्रभावपूर्ण बात है उनके पीछे छिपा अनुभव से उपजा ज्ञान। मुहावरे कोई दूर की कौड़ी लाने में प्रयत्नशील नहीं होते—जो हमारे चारों ओर घटित हो रहा है, उसीको बार-बार समझाते और याद दिलाते हैं। इनमें परम्परा की शक्ति है और इसीलिए मुहावरे से पुष्टि की गई बात ऐसी ही है, जैसे कोई अपने तर्क के लिए एक गवाह साथ रखे। जो हम कह रहे हैं, वह हमारे पुरखों ने भी कहा है—इसकी गवाही मुहावरा दे देता है। इस तथ्य के बावजूद एक मजेदार विरोधाभास भी इनमें दिखाई देता है। दो विपरीत अर्थ वाले मुहावरे एक-सी लोकप्रियता रखते हैं। एक ओर कहा जाता है—'चोर का भाई गिरहकट' तो दूसरी ओर कहा जाता है—'कुत्ते का कुत्ता वैरी।'

कभी-कभी दो कहावतें आपस में इतनी मिलती-जुलती होती हैं कि इंसान जल्दबाजी में उनका गलत प्रयोग कर जाता है और अर्थ का अनर्थ हो जाता है। सभी उनके शब्द-भण्डार की वाहवाही कर रहे हैं, भाषण की नाटकीयता से प्रभावित हो रहे हैं। वकील साहब ने लम्बी स्पीच का अंत करते हुए जज को मक्खन लगाया और बोले, "तो हुजूर, अब आप ही फैसला करें और दूध की नदियां बहा दें।" सुनकर लोग पहले तो चकराए—फिर जब उनकी भूल समझ में आई तो जोर से हंस दिए। वकील साहब—कहना चाहते थे—'दूध का दूध और पानी का पानी' लेकिन बहा गए दूध की नदियां। भाषण का सारा प्रभाव एक गलत मुहावरे की बलि चढ़ गया।

आज के जीवन में अनेक सभ्यताओं, संस्कृतियों और भाषाओं का असर हम भारतीयों पर देखा जा सकता है। एक जमाना था जब अरबी-फारसी का बोलबाला था। उस समय हिन्दी में बहुत-सी ऐसी कहावतें आ मिलीं जो शुद्ध रूप से इन भाषाओं से आई हैं। जर, जमीन, जन हो या अलादीन का चिराग, कजा के आगे हकीम अहमक मुहर्रमी सूरत, ताजी में कारीगरा मुआफ, मुल्ला न होगा तो क्या मस्जिद में अजान न होगी, कयामत आ गई—ऐसे मुहावरों की उत्पत्ति के बारे में संदेह की गुंजाइश नहीं। हिन्दी-फारसी का भाईचारा तो इसी मुहावरे में

जाहिर है कि 'हिन्दी न फारसी, लालाजी बनारसी'; या, 'पढ़े फारसी बेचें तेल।' इसी तरह ईसाई धर्म के और अंग्रेजों के प्रभाव में हमने कहना शुरू किया — 'सलीब पे टंगना, दूसरा गाल आगे करना, लाट साहबी दिखाना, विलायती चाल, रंगीन चश्मा…।'

इन कहावतों में पश्चिमी प्रभाव चिराग लेकर ढूंढ़ने की जरूरत नहीं। वह स्वयंसिद्ध है। लेकिन मजा तब आता है जब कोई लेखक महोदय खुद को अक्ल का पुतला साबित करने के लिए ऐसा भानमती का कुनबा जोड़ते हैं कि सारा गुड़ गोबर हो जाता है। और वे अक्ल के पीछे लाठी लिए दिखाई देते हैं। अभी पिछले दिनों हिन्दी की एक फिल्म-समीक्षा इसका रोचक उदाहरण है। अंग्रेजी में आजकल अकसर विशेषता ध्वनित करने के लिए लिखते हैं—'टू सैट दी जमुना ऑन फायर।'

हिन्दी के समीक्षक को मुहावरा भा गया और उन्होंने लिखा—'यह फिल्म यमुना में आग नहीं लगाएगी।' इससे भी हास्यास्पद भूल एक समाचारपत्र में देखने को मिली जहां अंग्रेजी मुहावरे 'ऐट रैंडम' को न समझते हुए किसी उप-सम्पादक ने 'बौम्बिंग ऐट रैंडम' का अनुवाद कर दिया—'रैंडम पर बम-वर्षा।'

हर भाषा की अपनी प्रकृति होती है और उसमें प्रयुक्त की जाने वाली शब्दावली उस देश की सभ्यता का आईना होती है। शायद इसीलिए एक भारतीय जब अपने प्रेमीजन पर प्रेम प्रकट करना चाहता है तो उसके लिए अंग्रेजी का सहारा ढूंढ़ता है। 'मुझे तुमसे प्रेम है' की अपेक्षा 'आई लव यू' कहना कहीं आसान जान पड़ता है। इसके पीछे संभवतः हमारा जातिगत संकोची स्वभाव और अपेक्षाकृत शालीन संस्कृति ही कारण-रूप छिपे हैं। यों भारतीय प्रकृति और संस्कृति के रंग में डूबे सैकड़ों प्यारे-प्यारे मुहावरे हैं—बसन्त जाड़े का अंत, दिन दीवाली हो गए, हाथों के तोते उड़ना, हथेली पर सरसों जमाना, बाग-बाग हो उठना, कहें खेत की सुनें खलिहान की, तीज पड़े खेत में बीज, होली हो जाना। इसी तरह अनेक मुहावरे हैं जो भारतीय पारिवारिक जीवन की झलक दिखलाते हैं। चाचा-भतीजा, मामा-भांजा और जीजा-साली के रिश्ते भाषा के मुहावरे ही हो गए हैं। इसी तरह हैं—गरीब की जोरू सबकी भाभी, जान न पहचान बड़ी बुआ सलाम, घर घरवाली से, पूत के पांव, साली आधी घरवाली, सैंया भए कोतवाल अब डर काहे का; सावन में करेला फूला, नानी देख नवासा भूला; सास गई गांव, बहू कहे मैं क्या-क्या खाऊं; सास-बहू की हुई लड़ाई, करे पड़ोसिन हाथापाई; —लेकिन उसी सास के बारे में दामाद का कहना है—'सास बिन कैसी सुसराल, लाभ बिन कैसा माल?'

ये तो हैं ही शाश्वत मुहावरे लेकिन हमारी आज की जिन्दगी ने भी हमें नई कहावतों का वरदान दिया है। गांधी टोपी हो या सफेद पोशी—इनके खास संदर्भों

मे खास अर्थ हो गए हैं। अमेरिका का वाटरगेट हर भ्रष्टाचार के पर्दाफाश का संकेत देने लगा है। इसी तरह बन गया—मजबूरी का नाम महात्मा गांधी। काला बाजार और काला धंधा तो थे ही, अब विश्व-तेल-संकट ने 'काला सोना' भी दे दिया है। जीवन के कितने ही तनाव, शीत-युद्ध से बखूबी ध्वनित किए जा सकते हैं।

मुहावरेदार भाषा अच्छी तो बहुत लगती है—इसका प्रभाव भी पड़ता है और बहुत बड़ी बात छोटे-से वाक्यांश से ध्वनित करके गागर में सागर भर जाया करता है लेकिन इसका एक दूसरा पहलू भी है। जो लोग बहुत ज्यादा मुहावरों का प्रयोग करते हैं—कभी-कभी उनकी बातों की ईमानदारी में संदेह होने लगता है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे बात में सार कम, साज-सज्जा ज्यादा है और हमें मीठे मोहक शब्दों में भरमाया जा रहा है। अक्सर देखने में आता है कि शब्दजाल बुनता चला जाता है और उसके चक्रव्यूह में बुद्धि अभिमन्यु-सी फंसी रह जाती है। लेकिन मियां की जूती मियां के सिर। यह दोष कैसे ही मेरे सिर मढ़ा जाए। वैसे सारी गलती मेरी है भी नहीं। दिल्ली शहर में रहती हूं जिसके बारे में कहावत है कि उर्दू का मुहावरा दिल्ली पर आकर खत्म होता है। मेरी बिसात ही क्या?

जैसा देस वैसा भेष। सो सारी भूल-चूक माफ और इस मुहावरे के सिर'''

"कहानी जैसी झूठी नहीं
बात जैसी मीठी नहीं।"

अतिथि-देवता ?

लम्बी छुट्टियां सामने हैं और परिवार सहित यात्रा पर निकलने का लम्बा-चौड़ा कार्यक्रम बना डाला है। पांच हफ्ते की विविधता से भरी यात्रा में कई जगह जाना है और अनेक का अतिथि बनना है। तैयारी दो महीने पहले से शुरू हो गई और ट्रेन-बस की समय-सारिणी देखकर तिथियां निश्चित कर दी गईं। उसके बाद आया सबसे कठिन काम—जिन-जिन महानुभावों के घर धावा बोलने का इरादा है, उन्हें पत्र लिखकर सूचित करना। दिल्ली जैसे शहर में रहने के बाद खूब समझ में आ जाता है कि मेहमान के पधारने की सूचना उसी तरह तन-मन सिहरा जाती है जैसे मलेरिया बुखार।

यह नहीं कि आज हम अपनी भारतीय परम्परा को पूर्णत: त्याग बैठे हैं—या यह भूल गए हैं कि हमारे धर्म-ग्रन्थों ने कहा है कि अतिथि देवता होता है। भूल सकते भी कैसे हैं ? जो पौराणिक कहानियां हमने बचपन में अपनी नानी-दादी से सुनी थीं, वे आज भी हम अपने बच्चों को सुनाते चले जा रहे हैं। किस प्रकार बहुत-से लोगों को भोजन कराया गया था, कृष्ण ने ही सुदामा का अतिथि-सत्कार करते हुए तीन मुट्ठी चावल के साथ त्रिभुवन का राज्य देने की ठान ली थी। शबरी ने प्रेम-पगे बेर खिलाकर राम का मन-स्नेह जीत लिया था। ऐसे और इससे कहीं बड़े-बड़े अतिथि-सत्कार की सैकड़ों कथाओं से हमारा सांस्कृतिक गगन जगमगाता है। हम अपने पूर्वजों का अनुसरण करना चाहते भी हैं। इच्छा होती है कि सब प्रकार की सुख-सुविधा अपने अभ्यागतों को देकर स्वर्ग में स्थान सुरक्षित नहीं तो कम-से-कम इस पृथ्वी पर यश तो लूट ही लें। लेकिन सच बात यह है कि जिन्दगी इतनी यांत्रिक, खर्चीली और व्यस्त हो गई है कि मेहमाननवाजी के नाम दिल बैठने लगता है।

सचमुच जिन्दगी का रवैया बदल गया है। पति-पत्नी दोनों नौकरी-पेशा

हैं। बच्चे स्कूल जाते हैं। गृहिणी खाना बनाकर घर मे ताला लगाकर अपनी नौकरी पर चली जाती है—गृहस्वामी अपनी पर ! वड़ी बिटिया कॉलेज से आती है तो पड़ोसिन से चाबी लेकर घर खोलती है। खाना खाकर, स्कूल से छोटे भाई-बहनों के लौटने का इंतजार करती है। अब इस सांचे में वे मेहमान कैसे फिट करेंगे ?

पत्नी नौकरी नहीं भी करती तो मेहमानों के लिए बाजार से सामान मंगाकर पकाने से लेकर उन्हें दिल्ली-दर्शन कराने का पूरा जिम्मा कैसे ले सकती है ? और भी हजारों दिक्कतें हैं। महीने के आखीर में खर्च का अचानक धावा गृहस्वामी के लिए हार्ट-अटैक का बहाना बन जा सकता है। चार व्यक्तियों का काम बढ़ जाने पर मुश्किल से मिला नौकर (जो नौकरी-पेशा गृहस्थ-दम्पति की पतवार है) उन्हें मंझधार में गोते लगाने छोड़कर किनारे निकल जा सकता है। यह भी हो सकता है कि अपने घोंसले जैसे घर मे जहां कल तक वे तीन प्राणी सुख से चहकते थे—अचानक आ उतरे मेहमानो की भीड़-भाड़ कलकत्ता के ब्लैक-हॉल का आलम तैयार कर दे। गर्ज यह कि एक मर्ज के हजार सिम्प्टम्ज हो सकते हैं।

'जाके पैर न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई'। सो, अपने कष्टों के आईने मे अपने मेहमान के कष्टों को देखने का फैसला ही श्रेयस्कर है। अंग्रेजी मे भी कहावत है कि दूसरों के साथ वही बर्ताव करो जिसकी आशा तुम दूसरो से अपने प्रति रखते हो। अपने खुद के, अपने रिश्तेदारो के और अपने मित्रो के अनुभवों से जो सीखा, उससे एक आचार-संहिता का निर्माण किया गया :

"दुनिया ने तजुर्बात-ओ-हवादस की शक्ल में
जो कुछ मुझे दिया है वो लौटा रहा हूं मैं।"

दूसरों के घर धावा बोलने से पहले देख लें कि कहीं ये दिन परीक्षाओं के तो नहीं हैं—जिसके पास जा रहे हैं, यदि उनके बच्चो की परीक्षाएं चल रही होंगी तो वे मित्र का अंतरंग स्वागत करने मे असमर्थ होंगे। कहीं ऐसा तो नहीं कि उन्होंने भी छुट्टियों मे खुद बाहर जाने का प्रोग्राम बना रखा हो, जिसे दूसरो के कार्यक्रम के कारण उन्हें स्थगित करना पड़ जाए। यह भी हो सकता है कि उन्होंने बेहद थक जाने के बाद एक हफ्ते की छुट्टी ली हो चैन से घर में बैठकर आराम करने के लिए और कोई उनकी शांति भंग करने पधार जाए। मतलब यह कि जाने से पहले मेहमान को यह निश्चित कर लेना चाहिए कि उनका मेजबान स्वागत करने की स्थिति मे है भी या नहीं। बिना सूचना दिए अकस्मात् द्वार खटखटाने वालो से बढ़कर खुदगर्ज मेहमान दूसरा नहीं हो सकता।

कहीं हम ऐसे मेहमान तो नहीं कि हमारी फरमाइशें हमसे पहले मित्र के दरवाजे पर तशरीफ ले जाने लगती हैं?—'जरा मेरे लौटने का रिजर्वेशन करवा दीजिएगा। फलां-फलां को खबर कर दीजिएगा कि हम आ रहे हैं। बहुत बारिशों

तो नहीं होंगी ?' अब ऐसे प्रश्नों का उत्तर भला आप क्या मौसम-विभाग से पूछकर लिखेंगे ? या यह जवाब देंगे कि 'बारिश और धूप तो बादशाहों के हाथ में भी नहीं है, मैं तो एक अदना-सा दोपाया नागरिक हूं।' कमाल तो तब हो गया जब एक साहब ने जाने से पहले पूछ भेजा—'चिड़ियाघर और अजायबघर के खुलने-बन्द होने का समय मालूम करके रखिएगा, क्योंकि बच्चे सफेद शेर देखना चाहते हैं और श्रीमतीजी पत्थर के पुराने बुत।'

एक पुराना प्यारा-सा भारतीय रिवाज है कि जब कोई कहीं जाता है तो खाली हाथ नहीं जाता। बच्चों के लिए उपहार और फल-मिठाई साथ में ले जाता है। लेकिन कोई साहब कलकत्ते से दिल्ली किसी के घर आएं और बंगाली रसगुल्लों की जगह दिल्ली ही से खरीदकर दालबीजी पहुंचा दें तो इस उपहार में स्नेह नहीं, सिर्फ रीत का रायता दिखाई देगा। याद आता है कि एक बार एक मित्र आए तो उनके साथ दो अजीबोगरीब चीजें थीं। दस किलो का तरबूजा और एक शेर के मुंह की सुराही। बोले—इस बार अपने खेत में शर्बत जैसे मीठे तरबूजे उतरे हैं, और हमारे यहां की काली मिट्टी पानी को इतना ठण्डा रखती है कि आप फ्रिज भूल जाएंगे। उनका स्नेह देखकर मन गद्‌गद हो गया। कितनी परेशानी पड़ी होगी उन्हें इस लुढ़कते विशालकाय फल और नाजुक सुराही को यहां तक सुरक्षित पहुंचाने में ? इस सहृदयतापूर्ण उपहार के सामने मिठाइयों की भरी दुकान भी फीकी पड़ जाए। इसके विरीत महंगे-महंगे उपहारों में न सिर्फ दिखाने की गंध है, यह न्यौता भी छिपा है, देखिए हमने आपपर कितना खर्च कर दिया—आप भी हमपर खर्च कीजिए। या यह भाव कि हमने आपकी मेहमाननवाजी की कीमत पहले ही चुका दी।

अगर आप अच्छे मेहमान हैं तो अपने मेजबान को स्टेशन या हवाई अड्डे पर 'रिसीव' करने की परेशानी दिए बिना ही टैक्सी लेकर उनके घर पहुंच जाएंगे। आप उनसे यह उम्मीद नहीं रखेंगे कि उनकी अपनी सवारी हर पल आपकी खिदमत में मौजूद रहे। उनके यहां रहने का यह भी मतलब नहीं कि आपके टेलीफोन का बिल तिगुना हो जाए। आप इसकी भी सावधानी बरतेंगे कि आप खुद मेहमान हैं, आपके मेहमानों का बोझ भी कहीं उन्हींके कंधों पर न आ पड़े। अपने मिलने-जुलने वालों को आप बाहर किसी रेस्तरां में चाय पर बुला सकते हैं। दो-एक बार अपने मेजबानों को अपना मेहमान बनाकर बाहर खाना खिलाना, सिनेमा या नाटक दिखाने ले जाना उन्हें राहत और सुख पहुंचा सकता है। लेकिन खुदा के वास्ते उन्हें उन्हींके शहर के दर्शनीय स्थान दिखाने, साथ घसीटते न घूमिए। वे पर्यटक-विभाग के वाहन नहीं—आपके मित्र हैं।

अकसर बेतकल्लुफी के नाम पर मेहमान ज्यादतियां कर जाते हैं। उन्हें न दूसरे के आराम का ध्यान रहता है और न दूसरे के निजी जीवन और एकांत का

होता। जब देखिए, हर कमरे में टहलते चले आ रहे हैं। तरह-तरह की हिदायतें—'नमक कम डालिए भाभी', 'बहनजी, गुसलखाने में तौलिये नहीं हैं', 'भाई साहब, हमारी चिट्ठियां टिकट लगवाकर डलवा दीजिए', 'एक सिर-दर्द की गोली तो दीजिएगा आंटीजी!' इन मामूली अनवरत फर्माइशों से लेकर सूप के डालने की सिफारिश तक मेजबान के जिम्मे आ सकती है। नतीजा यह होता है कि मेहमान चला जाता है। अपने पीछे अपने आधे अटके कामों का द्रौपदी-चीर छोड़ जाता है। छोड़ने की बात से ध्यान आया कि कृपया जब किसी दूसरे के घर में रहें—अपने कामों को समेटकर रखें और जब जाने लगें तो अपना सारा सामान सहेजकर अपने साथ ले जाएं। वर्ना आप चले जाएंगे—बच्चे का नाइट-सूट खूंटी पर टंगा रह जाएगा, किसीकी चप्पल बरामदे में पड़ी रह जाएगी तो किसीका चश्मा रेडियो पर रखा रह जाएगा। आपकी परेशानी से कहीं ज्यादा परेशानी उनकी है जो आपकी इन चीजों को सम्भालकर रखे हुए हैं और किसी आने-जाने वाले की तलाश में हैं कि आपकी चीजें आप तक पहुंचाई जा सकें। हद हो गई तब जब एक सज्जन ने पत्र लिखा—'मैंने दो अखबार ट्रेन में खरीदे थे, उन्हें मैं पढ़ नहीं पाया। वे आपके यहां छूट गए हैं। कृपया बुक-पोस्ट से भिजवा दें।'

अगर आप जाड़ों में अपने मेजबान के यहां बिन-बिस्तर परिवारसहित पहुंच गए हैं तो वह आपको कभी माफ नहीं करेगा। इसी तरह गर्मियों में दिल्ली में आकर हर समय गर्मी-गर्मी चिल्लाना और अपने शहर भोपाल, इन्दौर की प्यारी ठण्डी रातों को याद करते रहना कहां की शराफत है? शहर का तापमान आपके मेजबान के हाथ में नहीं है। यह उसकी शराफत है कि वह, आपके कष्ट को समझ रहा है और साफ यह नहीं कहता कि आपको भोपाल से मैंने नहीं बुलाया। आप अपनी मर्जी से आए हैं। इसी तरह चलते-चलते यदि आपने यह कह दिया—'बाहर निकलकर गड़बड़ हो ही जाती है। अब मुन्ने का पेट जरूर खराब हो जाएगा।' तो समझ लीजिए कि दूसरे के सारे किए-कराए पर तो आपने पानी फेर ही दिया, अपनी असभ्यता का झण्डा भी मित्रता में हमेशा के लिए पक्की दरार में गाड़ दिया।

जिन्दगी के सारे पहलुओं की तरह यहां भी बिना सन्तुलन काम नहीं चल सकता। बेतकल्लुफ मेहमान सिरदर्द हो जा सकता है तो घर को होटल समझने वाले पूर्ण तटस्थ मेहमान के प्रति भी किसीका मन नहीं उमगता। नाश्ता खाकर निकलना, दिन भर मीटिंग में व्यस्त रहना, शाम दोस्तों के साथ गुजारकर रात को खाने की मेज पर पहुंचना और खाना खत्म होते ही थकान के कारण सो जाना। फिर अगले दिन वही दिनचर्या। आपने अपने मेजबान को तो एहसान से दाब दिया मानो वह आपका कर्जदार है। न आप उसके बच्चों से बोले न उससे हंस-मिलकर बैठे। आप जब गए तो बस एक ऊब-भरी याद पीछे छोड़ गए।

आत्मीयता और तटस्थता का सम्मिलित सन्तुलन तभी आ सकता है जब

व्यक्तित्व सजग और उदार है। जब अपने और दूसरे के लिए दो भिन्न तरह मानदंड नहीं बने हुए हैं। जब एक में दूसरे को यह विश्वास दिला सकने की शक्ति है कि वह उसे अपना समझता है, तभी उसके यहां आया है। दाल, रोटी और ए तरकारी अपने मित्र के साथ बैठकर खाना उसके लिए सचमुच सौभाग्य व प्री की बात है। अतिथि-रूप में हम देवता हैं या दानव, इसकी एकमात्र कसौटी यह कि हमारा मेजबान अनुरोध और आग्रह से हमें दुबारा अपने घर आमंत्रित करत है या नहीं।

पुष्पामृत

ऊंच-नीच और आंधी-तूफान से भरे इस स्याह-सफेद जीवन में भी ऐसा कौन अभागा होगा जो दो वस्तुओं को देखकर, कम-से-कम दो पल मुग्ध न रह जाता हो ? वे दो वस्तुएं विष के कटोरे में अलग तैरती अमृत की दो बूंदें हैं—फूल और शिशु। फूल की मुस्कान और शिशु की किलकारी तपते हृदय पर वर्षा की फुहार-सी पड़ती हैं और मन में खुशी की सोंधी खुशबू उठने लगती है :

> "बचपन में एक गीत सीखा था,
> कविवर सुमित्रानन्दन पन्त का रचा हुआ—
> लाई हूं फूलों का हास, लोगी मोल
> लोगी मोल ?"

और अब वही गीत मेरी बेटियां सीखती हैं। देखती हूं—मेरे बचपन की तरह ही वे भी यह गीत सुनकर खुशी से चमक उठती हैं। उनकी आंखों में भी रंग-बिरंगे सपने उग आते हैं। क्या है ऐसा इन फूलों में ? क्यों इस तरह मन को बांध लेते हैं ये ? किया भी क्या जाए ? जिस दिन से इंसान जन्मा—इन फूलों की तरह जिया। इन्हीं की तरह धरती से उगा, वहीं से रस खींचा, जाड़े में सिहरकर कांपा और सूरज की चमकीली आंखों से रूप-रंग अपने अन्दर उड़ेला। फूल—दुनियां के फलों का वरदान देकर झर गया और मनुष्य नई पीढ़ी तैयार करके जन्मदायी मिट्टी में एकाकार हो गया। तब क्या ताज्जुब कि आशीर्वाद का सबसे सहज वचन है—'खुश रहो, फूलो-फलो।'

जन्म देने और सुलाने वाली यह मिट्टी भी कहां की ? भारत की। बेहद उप-जाऊ। छः ऋतुओं को गोद में लेकर झुलाने वाली। इस धरती का रोआं-रोआं घास की तरह लहराता है। इसके आंचल को सैंकड़ों छोटी-बड़ी नदियां सींचती रहती हैं। यहां खेतों में इन्द्रधनुष उगते हैं। वर्फीले उत्तर से तरल दक्षिण तक ऐसी

विविध जलवायु यहां पाई जाती है कि ठंडे प्रदेशों की केसर और नर्गिस, नम जंगलों के चितकबरे ऑर्किड, और रेगिस्तानी नागफनियों के छोटे-बड़े लाखों फूल भारत में उगते हैं। फिर भला फूल भारतीय संस्कृति से अलग कैसे रह सकते हैं?

फूलों की बात तो मनुष्य की उत्पत्ति से क्या, वास्तव में सृष्टि की उत्पत्ति से आरंभ हो जाती है। सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मा से है और ब्रह्मा की उत्पत्ति कमल से मानी जाती है। सृष्टि के आरंभ को ही एक दूसरे कोण से देखें तो पाएंगे कि जीवन का जन्म प्रणय से जुड़ा है और प्रेम जागता है कामदेव के पांच तीरों से। पांच फूलों से बने पांच तीर। कथा है कि कामदेव ने शिव पर अपना मदन-बाण चलाया। शिव ने क्रोध में आकर काम को भस्म कर दिया और उसका धनुष पांच टुकड़े होकर धरती पर आ गिरा। हर टुकड़े से एक फूल उगा और इस तरह पांच मनोहारी मन्मथ फूल पृथ्वी से जन्मे—चम्पा, मौलसिरी, गुलाब, चमेली और बेला। वामन-पुराण के रचयिता ने जिस भी भावना से प्रेरित होकर यह कथा रची हो—हममें से जिस-जिसने इन फूलों की सुगन्धि को जाना है—गर्मी की सुबह में उजले मोतिया की सुन्दरता को आंखों में भरा है—मौलसिरी के नन्हे-नन्हे फूल धरती पर तारों-से बिछे हुए देखे हैं, वह इस बात का गवाह है कि वे छोटे-छोटे तीर बड़ी गहरी मार करते हैं। मन व्याकुल हो उठता है और पांचों इन्द्रियां इस तरह सचेत हो जाती हैं, जैसे झरने के नीचे नहाने से रोमावलि पुलकित हो उठती है।

'पुलकित' हो उठती है। फूलों के बिना तो हमारी भाषा ही अधूरी है। खुश हुए तो मन फूल उठा। उदास हुआ तो मन मुरझा गया। कभी मन में प्रेम का अंकुर फूटा तो कभी प्यार की खुशबू छिपाए न छिपी। मुहावरे लोक-जीवन का दर्पण होते हैं। राजा हो या भिखारी, अपनी कहानी को सभी मुहावरों से रेखांकित किया करते हैं। तुलसी के लक्ष्मण परशुराम पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं—'इहां कुम्हड़ बतियां कोउ नाहीं, जो तर्जनी देखि मर जाहीं।'

अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए भी उंगली दिखाने से मुरझा जाने वाले लौकी, कद्दू के फूल की चर्चा। क्रोध में मुख गुड़हल के फूल-सा लाल हो जाता है। लज्जा से गुलाब, भय से सरसों या केतकी-सा पीला। वेदना में भोर की कुमुदिनी-सा म्लान और प्रसन्न हो जाने पर तो पूरा अस्तित्व ही बाग-बाग हो उठता है।

ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई, प्रेम मन में जागा और अब कमल पर आ विराजीं सरस्वती—मनुष्य को ज्ञान देने के लिए। सभ्यता की बगिया महकने लगी। शिव ने सर्पों के साथ धतूरे और मन्दार के फूलों की मालाएं भी धारण कीं। विष्णु न केवल कमलासन पर विराजे, उनके हाथों में शंख, चक्र, गदा के साथ पद्म ने भी स्थान पाया। वे शेष-शैया पर सोए और उनकी नाभि से निकले कमल पर विराजे—

ब्रह्मा। कृष्ण ने कदम्ब के फूले हुए वृक्षों के नीचे रास रचाया। राम ने रावण को जीतने के लिए शक्ति की पूजा की और अंतिम दिन पूजा का कमल न मिलने पर अपनी कमल जैसी सुन्दर आंख शक्ति के चरणों में चढ़ाने को तैयार हो गए। देवताओं और दानवों ने सागर-मंथन किया तो अन्य वस्तुओं के साथ सब प्रकार के फूलों और फलों से लदा कल्पवृक्ष भी निकला। बुद्ध हों या महावीर—उनके जन्म के सूचक स्वप्न उनकी माताओं को आते हैं तो उनमें फूले हुए वृक्ष, मालाएं और कमलों का विशेष स्थान है। बुद्ध का एक अवतार है—पद्मपाणि।

भारतीय जीवन में कमल को बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त है। आज अक्सर हमें कमल नहीं, तालाबों में खिली कुई ही दिखाई देती है जो सिंघाड़े के फूलों को गलबाहीं डाले खिली रहती है। लेकिन प्राचीन साहित्य, वास्तुकला, चित्र और योगदर्शन इसके साक्षी हैं कि किसी समय कमल का फूल जीवन के बहुत समीप था। कमल को जीवन का प्रतीक माना गया है। स्थिर चित्त होने के लिए योगी पद्मासन लगाकर बैठता है। हठ-योग के अनुसार, शरीर में षट्चक्रों की कल्पना की गई है। प्रत्येक चक्र को कमल के साथ मिलाया गया है। मस्तक में सहस्र-दल कमल की कल्पना है, जहां अमृत और मोक्ष का पराग है। गीता का आदेश है—'पद्मपत्रमिवाम्भसा।' अर्थात इस जीवन में पानी में कमल-पत्र की तरह रहें। मनुष्य के विभिन्न अंगों की तुलना कमल से करने में तो विनयपत्रिका के पद का सानी ही ढूंढना कठिन है :

"श्री रामचन्द्र कृपालु भज मन, हरण भव-भय दारुणम्।
नव-कंज-लोचन, कंज-मुख, कर-कंज पद-कंजारुणम्॥"

किसी भी देश की संस्कृति को समझने के लिए वहां के धर्म, दर्शन, साहित्य, कला और समाज को परखना होता है। भारतीय संस्कृति के इन सभी अंगों में फूल का स्थान सर्वोपरि है। देवता की पूजा बिना फूल के नहीं सजती। मंदिर की शीर्ष-कलश फूल के आकार का होता है। बहुमूल्य रत्नों से खेलने वाले राजा दुष्यंत, वल्कल में लिपटी फूलों से सुसज्जित शकुन्तला पर मुग्ध हो जाते हैं। नायिकाओं में सर्वश्रेष्ठ है—पद्मिनी। सुहाग की सेज फूलों से सजाई जाती है। बालों में फूलों की वेणी सुहाग का लक्षण है। दूसरी ओर बांस का फूल अकाल की सूचना देता है। मनुष्यों का गुण-विभाजन भी वनस्पति के आधार पर किया जाता है। राम लंकाकांड में रावण को समझाते हैं :

"जग यह विविध पुरुषपरम
पाटल रसाल पनस सम।
एक सुमन प्रद, एक सुमन फल, एक फलै केवल लागहीं
एक कहहिं करहिं न, करहिं कहहिं, एक करहिं कहत न बागहीं॥"

साहित्य और पुष्पों की चर्चा, बिना कालिदास का स्मरण किए अधूरी है।

मालविकाग्निमित्र के अनुसार, अनिंद्य सुन्दरी अपने चरणों से वृक्षतल में आघात करती थीं और अशोक पर लाल-लाल फूलों के गुच्छे उग आते थे। नर-नारी सभी घुटनों तक लम्बी फूलमालाएं पहनते थे। स्त्रियां केसर के फूलों की तगड़ी पहनती थीं। शिरीष और कर्णिकार को कानों में झुलातीं। काले बालों में सफेद कुन्द और मन्दार के फूल सजातीं। कुरवक को चोटियों में गूंथतीं और लीला-कमल हाथ में लिए क्रीड़ा करतीं। कालिदास का ऋतु-वर्णन ऋतु विशेष के फूलों के वर्णन से सुरभित है।

कालिदास से पहले और कालिदास के बाद कौन-सा ऐसा कवि या साहित्य-कार है जो फूलों की गलियों में भौंरे-सा न भरमाया हो ! यदि साहित्य और फूल के नाते की चर्चा करने लगें तो हजार संतों की कथा तैयार हो जाएगी। साहित्य-चर्चा छोड़ यहां एक मांझी का गीत याद आता है जो भोजपुरी में कुछ यह भाव व्यक्त करता है, "गंगा मैया, मेरी नाव तुम्हारे शृंगार के हार-फूलों से बोझिल है, जवा-कुसुम और कनेर से लदी है, तुम्हें सात प्रणाम चढ़ाने के लिए केले के पत्तों पर शेफाली के फूलों से भरी है। ओ मां, इसे धीमे-धीमे निर्भय चलने का आशीर्वाद दो।"

याद आते हैं वे विवाह-गीत जिनमें बालिका-वधू अकुलाकर कहती है, "हाथ चंगेरी फूलों की, ओ बाबा, मैं मालन बनकर जाऊं। रंगीले आ उतरे बागों में।"

एक प्रश्न मन में आता है। प्राचीन और ग्रामीण भारत की तो बात हुई, लेकिन क्या हमारा आधुनिक शहरी जीवन फूलों से रहित हो गया है ? कहां ? भला ऐसा हो सकता है ? साड़ियों पर नन्हे-नन्हे फूलों के बेल-बूटे छपे। किनारों पर इस तरह लताएं उग रही हैं, जैसे प्राचीन भोजपत्रों की पांडुलिपियों पर गिल-हरी की पूंछ के बालों का ब्रश बनाकर चित्रित की जाती थीं। कमरे की दीवारों पर अजंता के चित्रों की अनुकृतियां हैं जिनमें फूलों का जबरदस्त छिड़काव है। आभूषणों में कलियां उभर रही हैं। माथे पर फूल के आकार की बिंदियां हैं। फुलकारी, मेहंदी की सजावट चारों ओर है।

बालों में चमेली का तेल, मिठाइयों में गुलाब-जल महकता है। न जाने कितनी फूलों से प्राप्त दवाएं। त्योहारों पर रची अल्पनाएं—सभी तो आधुनिक जीवन का अंग हैं। उपहार की सबसे प्यारी वस्तु है—फूलों का गुलदस्ता। ठीक है कि आज छोटे-छोटे फ्लैटों में मोतिया और गुलाब का महकता बगीचा नहीं लग पाता। लेकिन खिड़की में रखे कैक्टस के तीखे कांटों के बीच लाल-लाल कलियां उग आती हैं। कांकरीट के रेगिस्तान में बहार का वायदा उतर आता है। हमारा आपका हर छुट्टी का दिन फूलों के बीच पिकनिक मनाने भागता है। हम बीसवीं सदी में रहें या इक्कीसवीं में पहुंच जाएं। 'वराह पुराण' के मुनि के साथ यही कहेंगे :

"अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेकं-न्यग्रोधमेकं दश पुष्प जातीः।
द्वे द्वे तथा दाडिममातुलुंगे पंचाम्ररोपी नरकं न याति ॥"

—एक पीपल, एक नीम, एक बरगद, दस फूल वाले लतावृक्ष, दो अनार, दो नारंगी तथा आम के पांच पेड़ लगाने वाला व्यक्ति कभी नरक में नहीं जाता।

एक जादू : एक कला—हंसते आंसू

कला जीवन का अनुकरण, साहित्य समाज का दर्पण, चित्र मन का प्रतिबिम्ब—ये तमाम बातें बचपन से सीखते-पढ़ते इंसान बड़ा हो जाता है। इन बड़े-बड़े तथ्यों की अहमियत सोचते-समझते कुछ और नई बातें उसके हाथ लग जाया करती हैं। जिन्दगी को बूझने-परखने से कला का भी एक नया आयाम उसके आगे खुला है। देखा यह गया है कि कला वह है जो जिन्दगी से एक कदम आगे बढ़कर होती है। जो जिन्दगी को उसकी लगी-बंधी पटरी से उतारकर हरे-भरे खेतों में ले जाती है। उसकी हमवार और उबाने वाली मशीनी गति में भी संगीत पैदा कर सकती है। साधारण मनुष्य के लिए कला की यह उपयोगिता ही सबसे बड़ी, सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे प्यारी उपयोगिता है। जीवन तो अच्छे-खासे हंसते चेहरों को रुआंसा बनाया करता है लेकिन कला, रोती आंखों में खुशी की चमक पैदा कर देती है। किसी सामान्य नागरिक से पूछें—वह संगीत क्यों सुनता है, उपन्यास क्यों पढ़ता है, सिनेमा देखने क्यों जाता है ? क्या इसलिए कि वह अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी का खाका उन सब में उतरता हुआ देख सके ? अपने कष्टों को बार-बार याद करता हुआ फिर-फिर दिल-दिमाग में तकलीफ की सुइयां चुभती महसूस कर सकें ? कतई नहीं। वह जाता है इनकी शरण में ताकि उन मुसीबतों से वह छुटकारा पा सके—संगीत-लहरी में इस तरह डूब जाए कि तकलीफों का तूफान उसे बिना छुए सिर के ऊपर से गुजर जाए, उपन्यास के पात्र उसे अपनी दुनिया में ले जाकर वास्तविकता के धक्कों से सुरक्षित कर लें। चित्रपट पर वह अपने सपनों को साकार होता देख ले—जो वह जीवन में पा नहीं सका, उसके रंगीन चित्रों से मन-प्राण भर ले। एक अदना इंसान के लिए ऐसी कला सचमुच वरदान है।

बात इतनी-सी है—रोना, हंसना और इन दोनों के सम्मिश्रण से कला की उत्पत्ति। रोना और हंसना तो सभी जानते हैं—उनकी व्याख्या की जरूरत

नहीं। रह गया शब्द—कला। जो सुनने में छोटा होते हुए भी बड़ा शानदार है—प्यार से कहा जा सकता है कि खोटा है। आज के उलटा-पलटी के युग में इसका सचमुच खोटे सिक्के की तरह भी इस्तेमाल किया जा रहा है। अक्सर सुनने में आता है—चोरी की कला में माहिर है, झूठ की कला का उस्ताद, स्याह को सफेद और सफेद को काला करने की कला, धोखा-धड़ी की कला में पारंगत। जीवन-सिद्धांतों के इस अवमूल्यन में शायद हंसते को रुलाना भी, कल, कला में गिना जाने लगेगा। खैर, कल क्या होगा, इसकी चिन्ता अभी से न करके आज सुधार लिया जाए तो वही काफी है। बुद्धिमानों की नसीहत है कि जो अपने 'आज' को सुधारता है, उसका अगला पिछला 'कल' स्वयं सुधरता-संवरता चला जाता है। अभी तो हम रोते को हंसाना ही कला मानते हैं।

बात बच्चे के जन्म से उठाई जाए। शिशु दुनिया में कदम रखते ही पहला काम करता है—रोना। और मां का पहला काम होता है, उसे अंक में भरकर प्यार से छाती से लगा लेना—उसके रोने को मुस्कान में बदल देना। इसके अर्थ हुए कि इस कला की प्रथम गुरु है—मां। किसी भी मां को ले लीजिए—अपनी मां को या स्वयं अपने भीतर छुपी बैठी वात्सल्यमयी जननी को—उसके जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य है अपने बच्चे का सुख, उसकी खुशी। उसके आंसुओं को अपनी झोली में समेटकर वह बच्चे के होंठों पर हंसी देखना चाहती है। कुछ आंसू जरूरतों को पूरा करके पोंछे जा सकते हैं—भूख में दूध पिलाकर और कष्ट में दवा लगाकर, लेकिन बहुत-से आंसुओं को पोंछने के लिए बहलाने-फुसलाने का सहारा लेना पड़ता है। 'अरे, चोट लग गई। ले, मैं जमीन को मारती हूं। बड़ी गंदी है।' या फिर मां बच्चे के दुख के सामने दूसरे के दुख को बड़ा करके रखती है। 'न बेटा, रोते नहीं। देख-देख, चींटी मर गई—उसकी मां रो रही है।' एक अजीब ढंग से दिया हुआ सहानुभूति का सुन्दर पाठ, जो जीवन भर काम आता है। दूसरे के बड़े दुख के सामने अपने दुख को छोटा कर लेना। दुख को दुख ही न मानना।

इन्सान, जैसे-जैसे बड़ा होता है, उसकी यह कला भी सान पर चढ़ती जाती है। वह और महीन और कारगर होती जाती है। बड़ों को यों फुसलाया नहीं जा सकता, इसलिए मनुष्य अनुभव से कुछ नये नियम गढ़ता है। मौजूदा दुख के सामने भविष्य के सुख की कल्पना का मरहम उन्हीं में से एक है। 'हर बुराई के पीछे भी कोई भलाई छिपी है'—यह मान्यता इसी निमित्त से बनाई गई है। इसमें दुखी व्यक्ति की उदासी आशा में बदल देने का प्रयास है। बात ठीक भी है। हर भाषा में हमें इस आशय के मुहावरे मिल जाते हैं। 'एवरी डार्क क्लाउड हैज ए सिल्वर लाइनिंग'—इसमें भी दुख के पीछे छिपे सुख—काले बादल के पीछे छिपी रोशनी का आभास है। कोई भी रात इतनी काली नहीं होती कि उसका सवेरा न हो। जीवन परिवर्तनशील है। आज दुख है तो कल खुशी भी आएगी। मनोविद्

वह है, जो इन बातों को दूसरे के मन में गहराई से उतार सके। लोग इस काम को अकसर अपने निजी उदाहरण देकर किया करते हैं—'बेटी का रिश्ता टूट गया, उस समय बड़ी जिल्लत उठानी पड़ी। शादी के कार्ड छप चुके थे, मेहमान आने शुरू हो गए थे। ऐसे समय शादी का टूटना ऐसा था, जैसे कहर टूट पड़ा हो, लेकिन ऐसे पैसे के लोभियों के यहां बेटी जाकर क्या सुख उठाती? उन लोगों को गुण नहीं—माल चाहिए था। अब लड़की उतने मालदार घर में नहीं गई लेकिन सुखी तो है।' आपबीती सुनाने में एक बहुत बड़ा खतरा है जिसकी ओर से अक्सर लोग सावधान नहीं रहते। अमूमन यह देखने में आता है कि सभीके पास कहने को इतना कुछ है कि दूसरे की सुनने की ताब उसमें नहीं रह जाती। नतीजा यह होता है कि जिसका मन हल्का करने की कोशिश हो रही है, वह तो चुप बैठा रहता है, दूसरा व्यक्ति अपनी रागिनी अलापता चला जाता है।

एक घटना याद आती है। किसीका आपरेशन हुआ था। हम लोग उन्हें देखने गए। वहां एक सज्जन पहले से जमे बैठे थे और बड़े विस्तार से मरीज को अपने किसी आपरेशन की गाथा सुना रहे थे। पूरी कथा की तर्ज यह थी कि 'आप का छोटा-सा आपरेशन है, तकलीफ तो मैंने सही थी। आपके में दो डाक्टर थे, मेरे में चार, आपके में तो आधा ही घंटा लगा, मेरे साथ तीन घंटे तक डाक्टर और नर्स जूझे। मुझे छः महीने तक अस्पताल के दर्शन करने जाना पड़ता था। मुझे दर्जनों बोतलें ग्लूकोज चढ़ाया गया...' मैं, मैं, मैं। बेचारा बीमार तो पीछे छूट गया, तीमारदार बाजी मार ले गया। गोया बीमारी न हो, घुड़दौड़ का मैदान हो। गर्ज यह कि जब वे सज्जन उठकर गए, मरीज को और दर्दों के साथ सिरदर्द भी दे गए। ऐसे आंसू पोंछने वालों से खुदा बचाए!

बहुत बोलना अपने-आपमें एक मर्ज है। इस रोग के रोगी आजकल बढ़ते ही जा रहे हैं। दूसरी ओर दुनिया के बड़े-बड़े चिकित्सा-विशेषज्ञों का कहना है कि अगर इंसान बोलने की जगह सुनने पर अधिक बल देने लगे तो दिल-दिमाग की बीमारियों का प्रतिशत आधा रह जाए। यानी अच्छा होना भी रोग-मुक्त रहने का एक उपाय बन सकता है। वैसे, रोग की दृष्टि से सुनना और बोलना दोनों अपनी-अपनी जगह महत्त्वपूर्ण हैं। बोलकर मन हल्का करने का उपाय चर्च के 'कन्फेशनल' से लेकर मनोचिकित्सक के काउच तक एक-सा काम करता है। मनोचिकित्सा का प्रमुख आधार यही है कि रोगी अपना रोग बयान करता चला जाए; जो मन में आए, बोलता चला जाए और मनोचिकित्सक मनोयोग से उसकी सुनता चला जाए। मन की कह लेने से उबाल निकल आता है, भीतर बनी गांठें सुलझकर खुल जाती हैं। रोते को हंसाने की इससे आसान, सहज और कम कष्टप्रद तरकीब और क्या हो सकती है कि हम सहृदय श्रोता हो जाएं और अपने मित्र को दुख से बोझिल माथा टिकाने के लिए अपना कंधा और आंसू

पोंछने के लिए अपना रूमाल चुपचाप बढ़ा दे।

रोते बच्चे को चुपाने का एक उपाय हुआ करता है—कहानी सुनाना। यानी ध्यान उस तरफ ले जाना, जिसमें उसकी रुचि है। लेकिन यही सिद्धांत बुढ़ापे तक काम करता है। जिस विषय में मन रमता है, दुखी व्यक्ति के ध्यान को उस तरफ मोड़ दिया जाए तो अनायास ही आंसू सूखने लगते हैं, आंखों में चमक आने लगती है, और उच्चाटपन कम हो जाता है।

दुख भंवर की तरह होता है। एक बार इसकी गिरफ्त में आ गए तो निकलना मुश्किल हो जाता है। चक्कर-पर-चक्कर उठते हैं और मन बीच में गहरे और गहरे डूबता चला जाता है। जी करता है, अकेले रहें, किसीसे कुछ न कहें लेकिन यह अकेलापन दुख को और दूना करता है। जिस तरह भंवर से स्वयं निकलना असंभव है, उसी तरह दुख की गहराइयों में डूबे हुए को एक मददगार बांह की जरूरत होती है। हमदर्द मददगार की, नसीहतें देनेवाले की नहीं, लानत-मलानत करनेवाले की नहीं और न ही यह कहकर जले पर नमक छिड़कने वाले की कि 'हमने तो पहले ही कह दिया था। हमारी बात मानी होती तो यह नौबत ही क्यों आती।' गालिब का शे'र है :

"ये कहां की दोस्ती है कि बने हैं दोस्त नासेह
कोई चारासाज होता, कोई गमगुसार होता।"

परेशानी में यह विश्वास कि कोई दूसरा भी है जो हमारे दुख से दुखी होता है, हमारी परवाह करता है, हमें सुख देखना चाहता है—बहुत बड़ा वरदान सिद्ध होता है। यह विश्वास झूठमूठ दिलाया भी नहीं जा सकता। बुरा समय इसीलिए तो खोटे की पहचान की कसौटी बनकर आता है। मनुष्य आपदा पड़ने पर मित्रों ही के सहारे की खोज करता है और सच्चे मित्र भी सुख-आराम में भले ही उदासीन रह लें, मुसीबत में भागे चले आते हैं।

यह भी सच है कि 'यू लाफ एंड दि वर्ल्ड लाफ्स विद यू, यू वीप एण्ड यू वीप एलोन।' खुशी सब बांटना चाहते हैं—दर्द बांटने कौन आता है? माना कि यह जिन्दगी की कड़वी सच्चाई है लेकिन यही हमें सहृदय बनना भी सिखाती है। अगर हमें आंसू पोंछने वाले की जरूरत है तो दूसरे के आंसू पोंछने को हाथ बढ़ाना भी जरूरी है।

यों तो आंसू आंखों से छलकते हैं लेकिन ऐसे भी अनेक आंसू होते हैं जो पलकों तक नहीं आते लेकिन भीतर-ही-भीतर उनकी झड़ी लगी रहती है। अपनी स्वयं की दुर्बलताएं, कुरूपता, कमी व्यक्तिगत कष्ट कांटों तरह वे नीचे छिपे कांटे की तरह कसकते रहते हैं। जो आंखें इन्हें देख पाती हैं वे सच्चे मानवतावादी कलाकार की आंखें हैं। दूसरे बदन की सांवली सलोनी की टीस वह स्वयं ही अनुभव करती है। अचानक कोई उसकी सुन्दर, चमकीली आंखों की प्रशंसा करके उसके

मौन आंसुओं को सुख के मोतियों में वदल सकता है। थकी-मांदी गृहिणी की चुप उदासी पति के सहानुभूति-भरे प्यार के एक अक्षर से यों वह जाती है जैसे सूरज की एक किरण से पहाड़ों पर जमी वर्फ। अपने प्रियजनों के सारे कष्टों को कोई अपने ऊपर नहीं ले सकता। वेटे हुमायूं की मृत्यु अपने पर झेल लेने वाले वावर तो हम सव नहीं हो सकते। वह न स्वाभाविक है न व्यावहारिक, लेकिन हारे-थके कदमों के साथ चार कदम मिलाकर चल जरूर सकते हैं। उसीसे उनमें इतना उत्साह जाग उठेगा कि वे वाकी राह खुशी-खुशी अकेले पूरी कर लेंगे। कुछ लोग इतने खुशमिजाज और हंसमुख होते हैं कि उनके इर्द-गिर्द कोई उदास रह ही नहीं सकता—वे पत्थर को भी हंसाने की ताकत रखते हैं। इस कला का उस्ताद वही हो सकता है जो स्वयं के वारे में कम, दूसरे के वारे में ज्यादा सोचता है, जिसके मानसिक परिवार में संवंधियों की गिनती अनगिनत होती है जो मानवीय संवंधों को, 'देने और पाने' की तराजू पर तोलता नहीं रहता।

सिक्का : खोटा या खरा

अगर पैसा सचमुच हाथ का मैल होता तो कोयला-खान में काम करने वाला सबसे ज्यादा पैसे वाला हुआ करता। परन्तु पैसे वाला होता है हीरों से खेलने वाला। यों, हीरा भी कोयले की संतान है लेकिन जैसे कोयल के घोंसले में सेए जाने से कौवे का बच्चा मीठा गाना नहीं सीख लेता, उसी तरह भूमि के एक ही गर्भ से निकलने पर कोयला और हीरा एक-से मूल्यवान् नहीं हो जाते।

आजकल आमतौर पर यह माना जाने लगा है कि पैसे से सब कुछ खरीदा जा सकता है—आलीशान बंगला, गाड़ी, बढ़िया कपड़े, बच्चों के लिए पब्लिक स्कूल, ऊंची विदेशी शिक्षा। इन्हीं सबके चलते पैसा आज सम्मान का पर्याय बन गया है। जो धनी है, वही मानी है। ऊंची दुकान होनी चाहिए—फीके पकवान होने पर भी ग्राहकों की भीड़ लगी ही रहती है। रोशनी और पटाखे अपने धनवान होने के वे झंडे हैं जो अमीर अपने दरवाजों पर धमाके के साथ गाड़कर रखते हैं। उन्हें देख-देखकर गरीब अपनी किस्मत को कोसते हैं और अपने बिना छप्पर के मकानों में तेल का मुंह ताकती टिमटिमाती ढिबरी बढ़ाकर सो जाते हैं। लेकिन तमाशा तब होता है जब ठंडे वातानुकूलित कमरों में मोटे गद्दों पर भी अनिद्रा में करवटें बदलने वाले उनकी किस्मत पर रश्क करते हैं जो फुटपाथों पर पैर पसारकर गहरी नींद में बेखबर सोए पड़े हैं। सूफी संतों ने कहा था कि अपनी जेबें खाली करके उलट दो और चैन की बंसी बजाओ। लक्ष्मी के पैरों के निशानों पर ही चलकर चोर घर में आता है। न लक्ष्मी को घर में बुलाओ और न चोर को न्योता दो। जब चोरी का डर नहीं रहा तो अनिद्रा भी मिट गई। यह तो बात है संतों की। साधारण आदमी क्या करे ? बिना पैसे के जिन्दगी की गाड़ी खींचनी भी तो नहीं। न हवा-पानी से पेट भरा जा सकता है और न प्यार-मुहब्बत को ओढ़ा-बिछाया जा सकता है। सिर पर छत न हो तो मन में शांति की उम्मीद कैसे की

सिक्का : खोटा या खरा

अगर पैसा सचमुच हाथ का मैल होता तो कोयला-खान में काम करने वाला सबसे ज्यादा पैसे वाला हुआ करता। परन्तु पैसे वाला होता है हीरों से खेलने वाला। यों, हीरा भी कोयले की संतान है लेकिन जैसे कोयल के घोसले में सेए जाने से कौवे का बच्चा मीठा गाना नहीं सीख लेता, उसी तरह भूमि के एक ही गर्भ से निकलने पर कोयला और हीरा एक-से मूल्यवान् नहीं हो जाते।

आजकल आमतौर पर यह माना जाने लगा है कि पैसे से सब कुछ खरीदा जा सकता है—आलीशान बंगला, गाडी, बढ़िया कपडे, बच्चों के लिए पब्लिक स्कूल, ऊंची विदेशी शिक्षा। इन्हीं सबके चलते पैसा आज सम्मान का पर्याय बन गया है। जो धनी है, वही मानी है। ऊंची दुकान होनी चाहिए—फीके पकवान होने पर भी ग्राहकों की भीड लगी ही रहती है। रोशनी और पटाखे अपने धनवान होने के वे झंडे हैं जो अमीर अपने दरवाजों पर धमाके के साथ गाडकर रखते हैं। उन्हें देख-देखकर गरीब अपनी किस्मत को कोसते हैं और अपने बिना छप्पर के मकानों में तेल का मुंह ताकती टिमटिमाती डिबरी बढ़ाकर सो जाते हैं। लेकिन तमाशा तब होता है जब ठंडे वातानुकूलित कमरों में मोटे गद्दों पर भी अनिद्रा से करवटें बदलने वाले उनकी किस्मत पर रश्क करते हैं जो फुटपाथों पर पैर पसारकर गहरी नींद में बेखबर सोए पड़े हैं। सूफी संतों ने कहा था कि अपनी जेबें खाली करके उलट दो और चैन की बंसी बजाओ। लक्ष्मी के पैरों के निशानों पर ही चलकर चोर घर में आता है। न लक्ष्मी को घर में बुलाओ और न चोर को न्यौता दो। जब चोरी का डर नहीं रहा तो अनिद्रा भी मिट गई। यह तो बात है संतों की। साधारण आदमी क्या करे ? बिना पैसे के जिन्दगी की गाडी खींचती भी तो नहीं। न हवा-पानी से पेट भरा जा सकता है और न प्यार-मुहब्बत को ओढ़ा-बिछाया जा सकता है। सिर पर छत न हो तो मन में शांति की उम्मीद कोरी की

जाए ? (वास्तव में अपनी बिलकुल अहम जरूरतों को पूरा कर सकने की सामर्थ्य भर पैसा नहीं कहला सकती। पैसा वह है जो आवश्यकताओं को पूरा करने के वाद जेव में वचा रहता है। जो पर्स में पड़ा-पड़ा कुनमुनाता रहता है और हमें वाजार की रंगीनियों की तरफ यों खींचता है, जैसे लोहे को चुम्वक।) देखना यह है कि अंगारे की तरह जेव जलाता, मचलता यह सिक्का पास हो तो मुसीवत, या पास न हो तो मुसीवत ?

किन्तु इसके पहले यह देख लें कि इंसान की अहम् जरूरतें होती क्या-क्या हैं ? क्या हम इन्हें इतना सिकोड़ सकते हैं कि एक धोने और दूसरी पहनने वाली दो धोतियों में यह सिमट जाए ? क्या यह नमक और प्याज से रोटी खा लेने से पूरी हो जाती है ? क्या अपना नाम लिख लेना भर आ जाने से शिक्षित होने की आवश्यक शर्त मिट जाती है ? यदि इसे अतिवादी दृष्टिकोण मान लिया जाए तो भी इसका निर्णय कौन करेगा कि वच्चों को एक समय दूध मिलना नितांत आवश्यक है या दो वार ? थका-मांदा शरीर लिए, वस के स्थान पर स्कूटर-रिक्शा करके घर चले आना क्या अमीरी है ? दिन-भर हाड़-तोड़ मेहनत करने वाला मजदूर अगर शाम को मनचाही फिल्म देखने के लिए ऊंचे दर्जे का टिकट खरीद डालता है तो क्या फिजूलखर्ची कर रहा है ? हरेक की जरूरत काफी हद तक खुद उसकी जिन्दगी के ढर्रे पर निर्भर करती है। एक प्रोफेसर के लिए पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों पर पैसा लगाना उसकी जरूरत है। एक किसान के लिए यही काम पैसा फेंकने के वरावर हो सकता है। उसके खेतों की जरूरत है पानी इसलिए वह दुगुना खर्च करके ट्यूववेल लगवाएगा। आवश्यकता की सीमा कहां खत्म होती है और समृद्धि या आरामतलवी की कहां शुरू होती है—वताना वहुत कठिन है। इसीलिए यह भी वता सकना असंभव है कि किस मात्रा में पैसा सुख देगा और किस मात्रा में दुख। निर्धन और धनी में तो भेद किया जा सकता है लेकिन कव मध्यवर्ग उच्च-मध्यवर्ग वन जाता है और कव वह धनीवर्ग की सीढ़ी पर कदम रख देता है, पता ही नहीं चलता।

इससे कोई इंकार नहीं कर सकता कि निन्यानवे का फेर ऐसा है कि जो इस भंवर में पड़ा—डूवकर ही रहा। एक इच्छा सौ इच्छाओं को जन्म देती है और पैसे की लालसा भी एक कभी न भरने वाला घर है। वैभव-वृद्धि की मंजिल क्षितिज की तरह कभी हाथ न आने वाली मंजिल है। धन एक नशा है—एक ऐसी प्यास जो पीने से और भड़कती है। यह इंसान पर इस तरह हावी हो जाती है कि तमाम सोच-विचार, विवेक-वुद्धि, वुरा और भला इसकी भेंट चढ़ जाते हैं। मनुष्यता के सारे मूल्य धन के ब्रह्म-राक्षस के जवड़ों में पिस जाते हैं। पैसे वाले को एक ही चिन्ता रात-दिन नचाती है—मैं और पैसा कैसे पैदा करूं ? इससे पल-भर छुट्टी पाता है, तो परेशान रहता है कि इस अर्जित खजाने की रक्षा कैसे करूं ?

इसी मोड़ पर आकर वह जीवन का सबसे बड़ा धन खो बैठता है। व्यक्ति का व्यक्ति से संबंध टूट जाता है। धन पारम्परिक संबंधों में दीवार बनकर खड़ा हो जाता है। आपस में प्यार का व्यवहार समाप्त हो जाता है। खरीद-फरोख्त का आलम आ उतरता है। जमीन-जायदाद को लेकर भाई-भाई में फूट पड़ती है। जेवर-पत्ते के कारण बहुएं एक-दूसरे की जान की दुश्मन हो जाती हैं। यहां तक कि बाप-बेटे में भी अविश्वास की खाई खुद जाती है। कर्ज लेकर मुंह चुराना तो संसार की रीत है, लेकिन किसीकी निःस्वार्थ सहायता पाकर भी अक्सर दांत-काटी दोस्ती का रिश्ता पलट जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि देने वाला दाता और लेने वाला भिखारी की मानसिकता के शिकार हो जाते हैं। देने वाला अपना ऊंचा हाथ न भी जताए तो भी लेने वाला हीनता के बोध से नहीं बच पाता और अपने सहायक के सामने पड़ने से कतराने लगता है। मजे की बात यह है कि यह स्थिति आर्थिक सहायता के समय ही अधिक दिखाई देती है। विद्या का दान, सेवा, वक्त-जरूरत में की गई दूसरे की भाग-दौड़ या सही सलाह-मशवरा हमें दूसरों के प्रति अनुगृहीत ही करता है और स्नेह के बंधन को और मजबूत बनाता है।

धनी को हमेशा यह महसूस होता है कि उसकी ओर आकर्षित होने वाला हर व्यक्ति उससे आकर्षित नहीं हो रहा, उसके धन से उसकी ओर खिंच रहा है। यह स्थिति न धनवान के लिए अच्छी है और न उसे चाहने वाले के लिए गौरव-प्रद। इसमें दोनों ही का व्यक्तित्व धन के सामने ओछा पड़ जाता है। न जाने संसार की कितनी ऐश्वर्यशाली सिने-तारिकाओं के जीवन को पैसा विषधर की तरह अकेला कर गया है। किसीके पास आते ही वह संदेह की फुफकार छोड़ने लगता है। तभी तो मित्र, पति और बाल-बच्चों से भरा-पूरा सुखमय संसार, जो हर किसी साधारण स्त्री को उपलब्ध है—अक्सर उन्हें नहीं मिल पाता।

पैसा एक ऐसा चश्मा है जिसे चढ़ा लेने पर दुनिया के रंग बदल जाते हैं। इन रंगों को गहरा करने में मदद देते हैं वे चाटुकार जो हर धनवान के आसपास मंड-राते रहते हैं। इनके साथ-साथ जीवन में प्रवेश करता है घमंड, जो बोलने-चालने, उठने-बैठने—हर चीज में खुद-ब-खुद झलकने लगता है। फालतू पैसे के साथ खिंच-कर आते हैं कुछ फालतू शौक। रेस के घोड़े दौड़ाना, सुरा और सुन्दरी में खुद को डुबोना'''और आखिरकार होता यह है कि सुख पाने का साधन पैसा उसके सुखों को ही घूंट-घूंट पी डालता है—इंसान को खाली कर देता है।

तो फिर क्या मान लें कि पैसा मुसीबत है? लेकिन कहां? पैसा दूर ले जाता है तो पास भी तो लाता है! अपने प्रियजनों को अपना प्यार जताने के लिए पैसा प्रतीक का काम करता है। किसका मन नहीं करता कि वह अपनों के लिए संसार की सारी सुख-संपदा इकट्ठी कर दे? इस भावना में कहां दोष है—कौन-सा स्वार्थ है और कैसा घमंड है? धन का निःस्वार्थ प्रयोग भी हमारे चारों ओर

मौजूद है। बड़ी-बड़ी अनुसंधानशालाएं, विश्वविद्यालय, भव्य कलावीथियां, मंदिर, मसजिद, अनेकानेक छोटे-बड़े पुरस्कार, प्रोत्साहन और छात्रवृत्तियां बिना इसके संभव नहीं थीं। संसार में न जाने कितने अस्पताल हैं जो किसी दूसरे के पैसे से खड़े हुए थे और न जाने कब तक असंख्य रोगियों का मुफ्त इलाज करते चले जाएंगे।

एक अत्तन्त सामान्य पारिवारिक उदाहरण लें—घर में तनाव का वातावरण। जहां चार लोग रहेंगे, वहां मनमुटाव भी होंगे ही। माहौल कुछ ऐसा बोझिल हो गया है कि उसे हलका करने का कोई उपाय काम नहीं कर रहा। हर कोई दूसरे पर अपनी झल्लाहट निकाल रहा है। शाम को गृहस्वामी आफिस से लौटे तो बोले, "सब लोग जल्दी से तैयार हो जाओ। रसोई बंद करो। मैंने सिनेमा के टिकट मंगा लिए हैं। सब पिक्चर चलेंगे—उसके बाद बाहर खाना खाएंगे।" टिकट आ चुके थे, इसलिए हां-ना की गुंजाइश ही नहीं थी। सब निकल पड़े। जब खा-पीकर रात को लौटे तब तक सबकी झुंझलाहट पिघल चुकी थी। सबने एकसाथ आनन्द उठाया था और सबकी विभिन्न मनःस्थितियां जिस एक वातावरण में पड़ी-पड़ी घुल रही थीं, उससे उबरकर फिर स्वस्थ और सहज हो गई थीं। इस सबका श्रेय गया गृहस्वामी को। दूरदर्शी, सूझ-बूझ और साथ ही उनकी इस आर्थिक क्षमता को कि वे परिवार की हंसी-खुशी लौटाने के लिए खुले दिल से खर्च कर सके।

धन का अभाव किस तरह जिन्दगी में घुन लगा सकता है, यह शायद बताने की जरूरत नहीं। कौन ऐसा है जो कह सके कि उसने जीवन की दो-चार रातें खर्च का जोड़-तोड़ करते नहीं गुजारी हैं, जिसके घर में पैसे की कमी को लेकर कभी अशांति और चिन्ता नहीं व्यापी है? सच तो यह है कि हममें से अधिकांश अपना अधिकतर समय इसी तरह की उधेड़बुन में बिताते हैं। 'तेते पांव पसारिए जेती लंबी सौर' की सीख तो हमने पाई है, लेकिन जीवन में अकसर पांव और चादर की लंबाई का ब्योंत बैठ ही नहीं पाता।

और तभी हम सुनते हैं—पढ़ते हैं उनके बारे में, जिन्होंने हजारों आर्थिक कठिनाइयां झेलीं। लेकिन फिर भी तूफान में मशाल की तरह जलते रहे। बल्कि एक विशाल ज्योति बन गए, जिसने हजारों का मार्ग रौशन किया। बात सही भी है और प्रेरणादायक भी। लेकिन सबमें इतना जीवट हो पाना संभव है क्या? और फिर हमारे पास उन छोटे-छोटे मिट्टी के दीयों का लेखा-जोखा और आंकड़े हैं ही कहां कि जो धन की कमी के झोंकों से बुझ गए। कितने होनहार भावी डाक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक, कलाकार, गरीबी ने निगल लिए होंगे—इसका कोई हिसाब है? विश्वविख्यात चित्रकार पिकासो के पास जब कैनवस खरीदने के लिए पैसे न बचे तो उसने कमरे की दीवारों पर चित्रकारी कर डाली। मकान मालिक ने

नाराज होकर न सिर्फ पिकासो को बाहर निकाल दिया—उसका बचा-खुचा सामान भी जब्त कर लिया और उसीको बेचकर दीवारों पर चूना पुतवाने का खर्च निकाला। हर चीज में भलाई देखने वालों को भले ही इस कहानी में यह नजर आए कि इन्हीं कठिनाइयों से जूझकर एक गरीब चित्रकार पिकासो बन सका। मुझे तो यही अफसोस होता है कि धनाभाव के कारण संसार ने उन बहुमूल्य कृतियों को खो दिया जो दीवार पर चित्रित की गई थी।

याद आता है कि एक बार हमारे घर सब्जी एक ऐसे लिफाफे में आई जो किसी हस्तलिखित पाण्डुलिपि से बनाया गया था। लेखक होने के नाते मन कई दिन बेचैन रहा, यह सोच-सोचकर कि न जाने किसने कितनी बड़ी मजबूरी में अपनी रचनाएं कबाड़ी को रद्दी में बेच डाली हैं। न पड़े किसी पर यह मुसीबत कि अपना कोई सगा बीमार हो और जेब में इलाज कराने के पैसे न हों। बच्चों को भरपेट भोजन खिला सकने की ताकत न रहे। पैसे की ऐसी कमी आए कि इंसान होते जानवरों की जिन्दगी बसर करनी पड़े।

—और न ही आए ऐसी बेशुमार दौलत कि अच्छा-भला आदमी इंसान से हैवान बन जाए।